श्रीपुरुषोत्तमयोग



श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ

श्री १००८ स्वामी महेशानन्द गिरि जी

महाराज महामण्डलेश्वर के

प्रवचनों का संग्रह



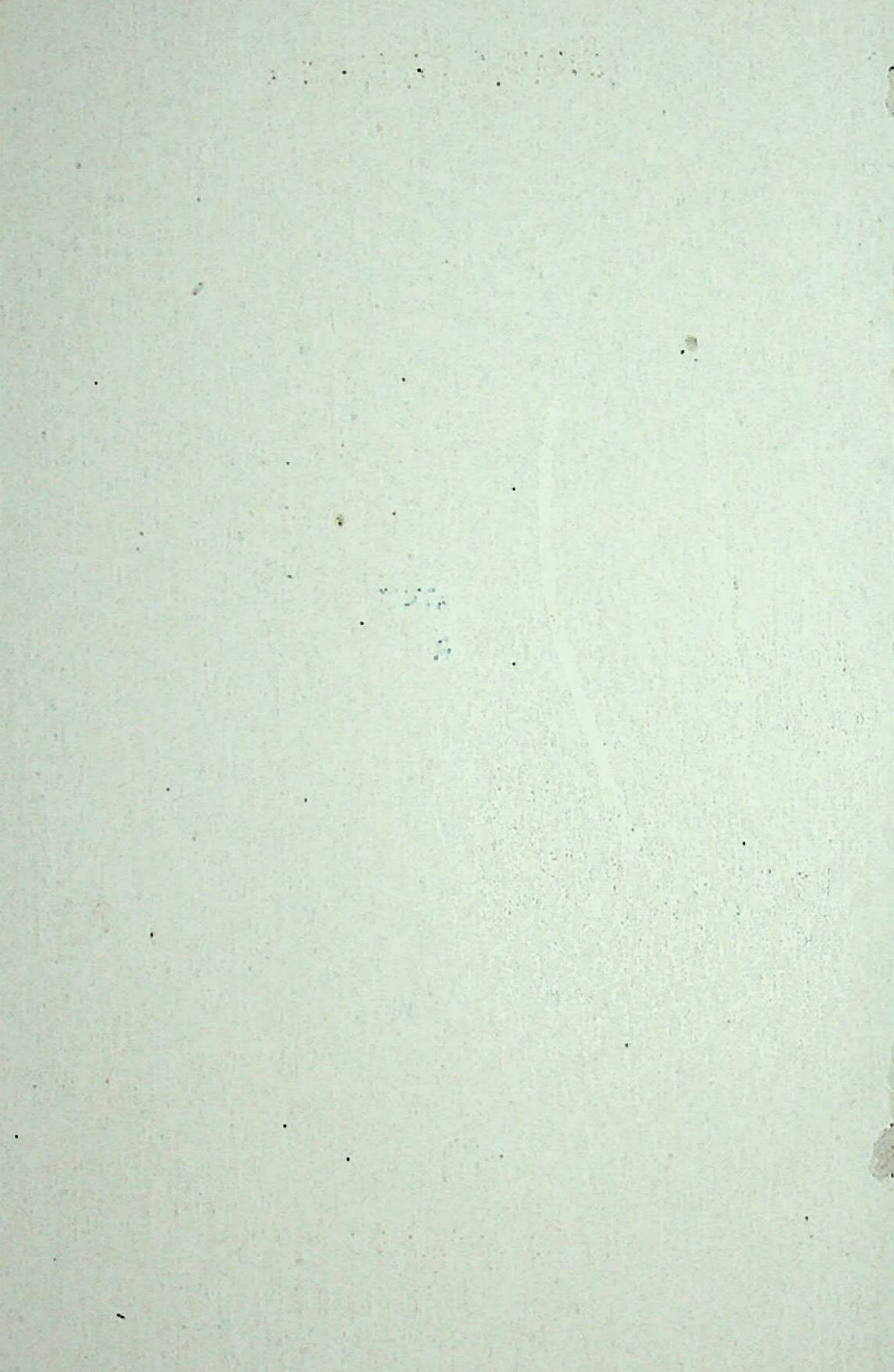
श्रीमती कमलादेवी मेहता

की पुण्य स्मृति में उनके

पुत्र-पुत्रियों द्वारा

प्रयागराज अर्ध कुम्भ पर्व सम्वत् २०६३

पर धर्मार्थ वितरित



श्रीपुरुषोत्तमयोग



श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ

श्री १००८ स्वामी महेशानन्द गिरि जी

महाराज महामण्डलेश्वर के

प्रवचनों का संग्रह



श्रीमती कमलादेवी मेहता

की पुण्य स्मृति में उनके

पुत्र-पुत्रियों द्वारा

प्रयागराज अर्ध कुम्भ पर्व सम्वत् २०६३

पर धर्मार्थ वितरित

प्रकाशक :
मेहता चैरिटेबल प्रज्ञालय ट्रस्ट (रजि.)
१०४, तिलक बाजार चौक
दिल्ली - ६



द्वितीय आवृति
सम्वत् २०६३





अमूल्य वितरणार्थ



मुद्रक :
श्रीजी प्रिण्टर्स
जे. १२/५ नाटी इमली
वाराणसी - २२१००१
फोन नं. : ०५४२-२२०११०४, ३२५७३२९

ॐ

प्राक्कथन

श्रीमद्भगवद्गीता को आचार्य शंकर ने 'सर्व वेदान्त सिद्धान्त संग्रह' कहा है। यद्यपि सारी गीता सार ही है तथापि स्वयं भगवान् ने पन्द्रहवें अध्याय को 'शास्त्र' शब्द से कहकर इसकी महत्ता बढ़ा दी है। वेदान्त शास्त्र में प्रधान रूप से ब्रह्म का ही प्रतिपादन है जिसको छान्दोग्य उपनिषद् में उत्तम पुरुष कहा गया है और इस अध्याय में ही 'उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः' कहकर उसी का प्रतिपादन किया है। इस उत्तम पुरुष के प्रतिपादन के लिये ही अपेक्षित जो प्रथम पुरुष और मध्यम पुरुष हैं, उनका प्रतिपादन करना आवश्यक होने से उनका भी प्रतिपादन प्रसंगवश करना जरूरी है। इस अध्याय की खास विशेषता यह है कि इसके प्रारम्भ में सृष्टिप्रक्रिया को शुरू करके उस सृष्टि-प्रक्रिया का प्रविलयन करने के लिए जो मार्ग अपनाना जरूरी है उसका प्रतिपादन करके जो साध्य 'ऊर्ध्वमूल' से कहा गया उसी का अन्त में समापन उत्तम पुरुष के प्रतिपादन से किया गया। उसी का क्षर और अक्षर पुरुष के प्रतिपादन के द्वारा समापन किया गया। इस प्रकार साधन और साध्य दोनों का समावेश सुन्दर रूप से कर दिया गया है। बीच में मनुष्य की मृत्यु इत्यादि के स्वरूप का विवेचन करते हुए लिङ्ग शरीर, जो कि जीव की व्यावहारिक उपाधि है, का व्यावहारिक प्रतिपादन भी अति संक्षिप्त रूप से हो गया है। इस प्रकार का प्रतिपादन अन्यत्र मिलना कठिन होता है इसलिये इसका विस्तार से विवेचन इस प्रवचनमाला में किया गया है।

इसका संग्रह करने वाले स्वामी स्वयं प्रकाश गिरि इस प्रवचनमाला में उपस्थित नहीं थे। परन्तु पट्टलेखों के आधार पर सुश्री मंजरी झुनझुनवाला-वाराणसी के द्वारा लिखने के बाद उसका सम्पादन करके उन्होंने सबका उपकार किया है।

श्री बिशनदास मेहता जिन्होंने इस प्रवचनमाला का सारा आयोजन किया था एवं उनके सहयोगी श्री रमेश चड्ढा, श्री सुरेश चड्ढा व संजीव मेहता आदि का सहयोग तथा प्रकाशन में पूर्ण रुचि लेना उनके कल्याण के लिए होगा, ऐसा इन्हें आशीर्वाद है। इसका अमूल्य वितरण इसी दृष्टि से किया गया है कि सब लोग इसकी किरण धीरे-धीरे अपने जीवन में उतार कर स्थितप्रज्ञ की स्थिति को प्राप्त करें।

मकर संक्रांति २०५४ — **भगवत्पादीय**

ओयल (हि.प्र.) — **महेशानन्दगिरि**

ॐ

श्रीदक्षिणामूर्तये नमः

श्रीपुरुषोत्तमयोग

(श्रीभगवद्गीता पंचदशाध्याय ईस्वी १९९४ शीतकाल में **श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य महामण्डलेश्वर अनन्त श्री स्वामी महेशानन्द गिरि जी महाराज** के महेशनगर (ओयल, हि.प्र.) में दिये प्रवचनों का यथाशक्ति संकलन।)

प्रथम प्रवचन

यस्याहुरागमविदः परिपूर्णशक्तेरंशे कियत्यपि निविष्टममुं प्रपंचम्।
तस्मै तमालरुचिभासुरकन्धराय नारायणीसहचराय नमः शिवाय।।
श्रीव्यास-शंकर-सुरेश्वर-पद्मपादान्
वेदान्तशास्त्रसुनिबन्धकृतस्तथान्यान्।
विद्याप्रदानिह यतिप्रवरान् दयालून्
सर्वान् गुरून् सततमेव नमामि भक्त्या।।
यद्वक्त्रमानससरःप्रतिलब्धजन्मभाष्यारविन्दमकरन्दरसं पिबन्ति।
प्रत्याशमुन्मुखविनीतविनेयभृंगास्तान् भाष्यवित्तकगुरून् प्रणमामि मूर्ध्ना।।
यदीयसम्पर्कमवाप्य केवलं वयं कृतार्था निरवद्यकीर्तयः।
जगत्सु ते तारितशिष्यपंक्तयः जयन्ति देवेश्वर पादरेणवः।।
यद्वाक्सूर्यांशुसन्तापप्रणष्टध्वान्तकल्मषः।
प्रणम्य तान् गुरून् वक्ष्ये ब्रह्मविद्यासुनिश्चयम्।।
अनाद्यानन्तकूटस्थसत्यज्ञानसुखात्मने।

अभूतद्वैतजालाय साक्षिणे ब्रह्मणे नमः।।
ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते। पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते।। ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।।
शंकरं शंकराचार्यं केशवं बादरायणम्।
सूत्रभाष्यकृतौ वन्दे भगवन्तौ पुनः पुनः।।
ईश्वरो गुरुरात्मेति मूर्तिभेदविभागिने।
व्योमवद्व्याप्तदेहाय दक्षिणामूर्तये नमः।।
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।।

श्रीमद्भगवद्गीता के पन्द्रहवे अध्याय पर विचार करेंगे। यद्यपि सारी गीता 'शास्त्र' है तथापि इस अध्याय को स्वयं श्री भगवान् ने 'गुह्यतम शास्त्र' कहकर इसकी महत्ता बतायी है। अत्यन्त हित का जो उपदेश हो वह है शास्त्र; परम कल्याण की शिक्षा। राजा प्रतर्दन ने 'मनुष्य के लिये जो सर्वाधिक हित हो वह मुझे दें' यह प्रार्थना की तो देवराज इन्द्र ने कहा 'मां विजानीयात्'। कौषीतकी उपनिषत् में कथा आयी है। इन्द्र ने बताया कि मनुष्य के लिए यही सबसे ज्यादा हित है कि वह 'मुझे' जाने, मेरा विज्ञान करे, 'विजानीयात्'। 'मुझे' अर्थात् 'मैं'-शब्द का वास्तविक अर्थ प्रत्यगात्मा। कहीं वज्रधारी देवराज के रूप को विज्ञेय मत समझ लेना ! स्वयं उन्होंने उपनिषत् में स्पष्ट कर दिया है कि प्राण व प्रज्ञा उपाधि वाला जो आत्मा वह विज्ञेय है। 'विजानीयात्' अनुभव करो ; केवल जानना तो परोक्ष वस्तु की तरह भी हो सकता है जैसे कहें 'यहाँ देवदत्त उपस्थित है' तो तुम्हें उसका ज्ञान हुआ लेकिन जब अंगुली से दिखा दें कि यह देवदत्त है तो उसका अनुभव हो जायेगा; अतः केवल 'जानीयात्' की जगह 'विजानीयात्' कहा। भगवान् ने गीता में ब्राह्मण के कर्मों में ज्ञान और विज्ञान अलग-अलग गिने हैं।

भगवान् भष्यकार ने गिनकर बता दिया कि गीता में सात सौ श्लोक

हैं। यह पूरी गीता ही हिततम बात ही बताती है। लेकिन भगवान् ने विचार किया कि कलियुग में लोग बड़े व्यस्त हुआ करेंगे, सात सौ श्लोकों का पाठ इन्हें बड़ा मुश्किल लगेगा। अतः उन्होंने गीताशास्त्र को संक्षेप में बताया इसी के पंद्रहवें अध्यायमें । यह गीता का रहस्य-भाग है। गीता की कई विशेषतायें हैं। एक तो वह अत्यंत पवित्र है। इसका प्रामाण्य भी श्रेष्ठ है; सब उपनिषदों का सार स्वयं भगवान् ने एकत्र कर इसमें प्रकट किया। ब्रह्मसूत्रों में जगह-जगह 'स्मृति' कहकर गीता का उद्धरण दिया गया है जो इसकी प्रामाणिकता को व्यक्त करता है। इसमें कोई बात 'अपस्मृति' या वेदविरुद्ध नहीं है। गीता का उच्चारण करते हुए कोई मर जाये तो वह अवश्य सद्गति पाता है। इसका मतलब यह नहीं कि यह मरते समय सुनने-बोलने का ही ग्रंथ हो ! इसका अभ्यास सब समय करो, तभी तो मरते समय इसे बोल पाओगे। जब पाठ की विशेषता है तो अर्थज्ञान के फल का क्या कहना! इसे कोई अखबार या उपन्यास की तरह तो पढ़ना नहीं है। इसके हर वाक्य पर पूरा चिन्तन कर अर्थ का विज्ञान, अनुभव करना है। बाँचकर जो समझा उसे अपने जीवन में लाना है। गीतार्थ को जीवन में लाने पर मोक्ष स्वतः सिद्ध है। वेदान्त केवल उसकी तरफ ध्यान केन्द्रित नहीं करता जो मरने के बाद ही मिल सकता है, वह तो उसे प्रधान लक्ष्य कहता है जो यहीं प्राप्त होगा, बल्कि यहीं मिलना प्रधान है, यहाँ मिल गया तभी आगे मिला रहेगा। उपनिषत् इसीलिये कहती है 'विमुक्तश्च विमुच्यते' जो यहाँ जीवन्मुक्त हो चुका वही विदेहमुक्त भी होगा। गलत ढंग से जीना बन्धन है, ठीक ज्ञान के अनुसार जीना मोक्ष है। गीतानुसार अपना जीवन बनाने वालों को महापाप भी स्पर्श तक नहीं कर पाते। इस प्रकार गीता की अपार महिमा है।

पुरुषोत्तमयोग नामक पंद्रहवें अध्याय के प्रारंभ में उपनिषत्प्रसिद्ध वृक्षदृष्टान्त के सहारे परमात्मा के स्वरूप का निरूपण है। हमारे अनुभव में आने वाला यह संसार ऐसा है कि इसका जो सार है वह सम्यक् पदार्थ

है। हमेशा बदलता रहने से, सरकते रहने से जगत् को संसार कहते हैं। किंतु इसका असली सार क्या है ? परमेश्वर ही इसमें सार है। विचार पूर्वक देखो तो वह सार मिलेगा, बिना विचारे देखते रहोगे तो बदलाव ही मिलेगा। कई बार लोगों को भूत दीखता है, फिर पता लगता है कि वह तो ठूँठ था, पेड़ था! लेकिन जहाँ जो भूत दीखा वहीं उसे ही रोशनी आदि में देखो तभी सचाई जान पाओगे। ऐसे ही संसार को सही प्रकाश में देखोगे तभी इसका सार मिलेगा। इससे भागकर समाधि में चले जाओगे तो उतनी देर डर नहीं लगेगा पर बहम बैठा रहेगा कि संसार कोई भंयकर चीज़ है। वैकुण्ठादि लोकान्तर में जाकर बच गये तब भी केवल खुद को बचा समझोगे, संसार को तो भयावह ही मानते रहोगे। वेदान्त का रास्ता पकड़ोगे तो तुम्हे भागना नहीं पड़ेगा बल्कि इसी संसार को सही प्रकाश में देखना होगा क्योंकि यह तो ठूँठ की जगह भूत की तरह भयंकर दीख रहा है। विचारदृष्टि से यहाँ सिवाय परमात्मा के और कुछ नहीं। लहरें, बुद्बुदे, झाग जो दीख रहा है वह वस्तुतः क्या है ? पानी। ऐसे ही संसार जो दीख रहा है वह कौन है ? परमात्मा। इसी अभिप्राय से संसार वृक्ष का रूपक लेते हैं।

श्रीभगवानुवाच

ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित्।।१।।

जिसके पत्ते छन्द हैं, ऊर्ध्वमूल है, अधःशाख है उस अश्वत्थ को अव्यय कहते हैं। जो उसे जानता है वह वेदज्ञ है।

सबसे पहले कहा ऊर्ध्वमूलम्। जहाँ से यह सारा संसार निकला है वह इसका मूल 'ऊर्ध्व'-उत्कृष्ट कहा गया है। संसारदोषों से वर्जित होने के कारण इसका मूल इससे उत्कृष्ट है, ऊर्ध्व है। सारे भ्रम के प्रति अधिष्ठान बने रहना ही परमात्मा की उत्कृष्टता है।

जितना कुछ यह संसार है उसको परमेश्वर प्रकट करता है। प्रकट होने वाली चीजें तो क्षणिक हैं इसलिये इस संसार वृक्ष का नाम दिया अश्वत्थ। वैसे संस्कृत में जिसको अश्वत्थ कहते हैं उसी को हिन्दी में पीपल कहते हैं। पीपल के पेड़ की यह विशेषता है कि हल्की से हल्की हवा चलने पर भी पत्ते के आगे की नोक किंचित् हिल ही जाती है। वाकी पत्ते भारी होने से जिस समय बिल्कुल भी हिलते नहीं हैं, इसका भी पूरा पत्ता नहीं हिल पाता है, तब भी उसके आगे जो नोक होती है वह बहुत ही पतली और हलकी होता है, अतः वह हिल ही जाती है। निरन्तर हिलनेवाला होने से ही उसे संस्कृत में अश्वत्थ कहते हैं। संस्कृत में श्वः का मतलब आनेवाला कल होता है। हिन्दी में तो दोनों को कल कहते हैं—जो दिन बीत गया वह भी कल, जो आने वाला है वह भी कल। परन्तु संस्कृत में जो बीत गया उसे ह्यः कहते हैं, जो आने वाला है उसको श्वः कहते हैं। अतः कल तक जो चीज रहे उसको श्वत्थ कहेंगे। श्वः तिष्ठति—कल तक जो रहेगा वह श्वत्थ होगा। जो कल तक नहीं ठहरे उसे अश्वत्थ कहेंगे। अर्थात् अस्थिर। यह संसार वृक्ष अत्यन्त अस्थिर है। जब कभी परमात्मतत्त्व का प्रतिपादन करना होता है तो वेद हमेशा दो विरुद्ध बातों को कह देगा। इसलिये ऐसे स्थल समझने मुश्किल हो जाते हैं। सबसे पहले ईशावास्योपनिषद् में कहा 'अनेजदेकं'—वह हिलता भी नहीं है, 'मनसो जवीयो' वह सबसे तेज चलने वाले मनसे भी ज्यादा तेज़ चलता है। विदेशी, और उन विदेशियों की जूठी पत्तल चाटने वाले अपने हिन्दुस्तानी भी, मूल ग्रन्थ को नहीं पढ़ पाते क्योंकि संस्कृत नहीं जानते। अतः गीता, उपनिषद् भी अंग्रेजी तर्जुमें से पढ़ते हैं। जो अंग्रेजों की जूठी पत्तल हुई उसको चाट कर सोचेंगे कि हमें समझ आ गया। वे लोग मान लेते हैं कि वैदिक ऋषियों को कुछ निश्चित ज्ञान नहीं था। अथवा भांग वगैरह पी कर जो मर्जी उल्टा-सीधा लिख देते थे। परन्तु यही एकमात्र तरीका है जिससे जो मन और बुद्धि से अतीत चीज है, उसे

बताया जा सके। उसी प्रकार यहाँ भगवान् ने कहा **'अश्वत्थम्'**, जो कल तक नहीं रहता है, **'प्राहुः अव्ययम्'** उसी को कभी भी नष्ट नहीं होने वाला कहते हैं। अश्वत्थ नित्य नहीं हो सकता और नित्य अनित्य नहीं हो सकता। यही परमेश्वर की परम महत्ता है ! असम्भव को जो सम्भव कर दे उसी को तुम सब अत्यन्त महत्त्व वाली बात कहते हो। लोग ब्याह करते हैं, बच्चे पैदा होते हैं, सभी घरों में होते हैं। इसको तो कोई महत्ता की बात नहीं मानते। हरिद्वार में अंग्रेजों के राज्य में आज से कोई ७५-८० साल पहले एक अंग्रेज कलेक्टर आया था। वह ६५ साल का था और उसकी घरवाली ५५ साल की थी। उनके कोई सन्तति नहीं थी, कोई बच्चा नहीं था। वहाँ अपने अखाड़े की ही जमीन में एक परमहंस महात्मा रहते थे। उस समय हरद्वार में अधिकतर महात्मा ही थे। अब तो हरिद्वार शहर हो गया है। पाकिस्तान बनने के बाद बहुत से लोग वहाँ बस गये। उस कलेक्टर से लोग कहा करते थे कि हमारे महात्मा लोग सब कुछ कर देते हैं। उसने कहा 'मेरे कोई सन्तति नहीं है, किसी महात्मा के आशीर्वाद से करवा दें।' लोगों ने कहा 'ये परमहंस महात्मा हैं, ये चाहें तो हो सकता है। परन्तु ये किसी से मिलते नहीं हैं, कमरे में बन्द रहते हैं। इनकी भिक्षा इनके कमरे में ही पहुँचा दी जाती है। ये किसी से नहीं मिलते हैं परन्तु सुबह साढ़े तीन बजे स्नान करने के लिए निकलते हैं। उस समय किसी तरह तुम इनसे प्रार्थना करो और इनके मन में आ जाये और आशीर्वाद दे दें तो हो जायेगा।' वह कलक्टर अपनी पत्नी को लेकर सुबह साढ़े तीन बजे वहाँ पहुँच गया। जैसे ही निकले उन दोनों ने उनके पैर पकड़ लिये। पहले तो उन्होंने कहा—'अरे! मुझे छोड़ो। मैं नहाने जा रहा हूँ।' 'मुझे पुत्र चाहिये' ऐसा संकेत के माध्यम से बताना उस अंग्रेज ने सीख लिया था, भाषा तो जानता नहीं था। वह वस्तुतः पूर्ण श्रद्धा से गया था। महात्मा ने इशारे से कहा कि 'जाओ, हो जायेगा'। दस महीने में उसके पुत्र हो गया। इस प्रकार जो सन्तति उत्पन्न

हुई वह महत्त्व की चीज है। जो चीज असम्भव लगे पर सम्भव हो जाये उसी को महत्त्व की कहते हैं। इसलिये भगवान् सुरेश्वराचार्य लिखते हैं—संसार एक 'इन्द्रजाल' है, आश्चर्यजनक है। अश्वत्थ और अव्यय लगते विरुद्ध धर्म हैं पर इनकी यहाँ संगति है। कैसे? यह आगे बतायेंगे।

संसार बड़ा भारी इन्द्रजाल है। इन्द्रजाल अर्थात् बाजीगर का खेल। इन्द्रजाल क्यों है ? विचार करके देखो, अनादिकाल से आज तक कितने मनुष्य, कितने प्राणी उत्पन्न हुऐ। करीब एक सौ पचास वर्षों से लोगों के अंगूठों के निशान लेने की पद्धति चली हुई है, परन्तु इतने सालों में अभी तक दो अंगूठे भी दो आदमियों के ऐसे नहीं मिले जो ठीक एक जैसे निकल आयें! हम लोग भी फैशन जरूर बनाते हैं, लाखों रुपये लेते हैं, परन्तु जितनी फैशनें देखो बीस साल बाद लौटकर फिर वही आ जाती है। कभी पेन्ट चौड़े पौंचे के हो गये और फिर फैशन बदला तो तंग पौंचों के हो गये, इसी प्रकार साड़ियों के रंग बदलते रहते हैं। बीस साल बाद फिर वही पुरानी फैशन आ जाती है। हम लोग बीस पच्चीस सालों में ही पुनरावृत्ति कर देते हैं, क्योंकि आगे बुद्धि काम नहीं करती है। अरबों आदमी पैदा हो रहे हैं और सबके अंगूठे अलग-अलग हैं। यह इन्द्रजाल नहीं तो क्या है ? जितना इसका विचार करते चले जाओ इसका रहस्य हमेशा छिपा ही रहेगा।

सारी सृष्टि परमेश्वर कैसे करता है ? चूंकि अज्ञात है इसलिये सारी सृष्टि करता है। अगर परमात्मा का ज्ञान हो जाये तो तुम्हारा मोक्ष हो जाये। फिर तुम्हारे लिये कहीं एक तिनका भी नहीं बचेगा। दोनों स्थितियाँ देखो। जब तक परमात्मा का अज्ञान है, तब तक दो अंगूठे एक जैसे नहीं दीखेंगे, दो आदमियों के चेहरे एक जैसे नहीं दीखेंगे, दो गायों के चेहरे एक जैसे नहीं दीखेंगे, अगर अनुवीक्षण यंत्र से, माइक्रोस्कोप से, देखना शुरू करोगे तो दो अमीबा एक जैसे नहीं दीखेंगे। छोटे से छोटे प्राणियों को देखोगे तो भी उनमें फर्क है। जिसको जिसका अभ्यास है उसको उसके फर्क का जल्दी

पता लग जाता है। गडरिये होते हैं। उनके पास पाँच-पाँच सौ भेड़ें होती हैं। कौन सी भेड़ खो गयी उन्हें पता होता है। अपने को लगता है कि सब भेड़ें एक जैसी हैं। ग्वालों को गायों का, भैंसों का चेहरा देखकर पता चल जाता है और नाम तक रख देते हैं। जब तक परमात्मा का ज्ञान नहीं होता है तब तक सारे चेहरे अलग-अलग और हर चीज अलग-अलग लगती है। वह ऐसी अनन्त सृष्टि करता है जो अनन्त काल से चल रही है परन्तु आज तक दो चीजें एक-सी नहीं हुई। और जब वह ज्ञात हो जाता है तो कोई दो चीजें एक जैसी न हों यह नहीं। जो होगा वह वासुदेव ही होगा। उसके सिवाय और कुछ नहीं होगा। जो नाम-रूप तुमको अब अलग-अलग दीख रहा है वह सब उसी परमात्मा पर कल्पित है।

प्राचीन काल में एक महिषासुर हुआ है। विजयादशमी के दिन महिषासुरमर्दिनी भगवती ने महिषासुर को मारा था। गजासुर महिषासुर का लड़का था। पिता के मरने के बाद जब बड़ा हुआ तो उसने माँ से सारी बातें सुनी। उसने विचार किया कि मैं तप करके देवताओं से अपने पिता का बदला निकालूँ। उसने जाकर तप किया।

तैत्तिरीय शाखा के आरण्यक का अन्तिम अध्याय कहता है कि संसार में सबसे दुर्धर्ष तप है। कोई चीज ऐसी नहीं है जो तपके द्वारा प्राप्त न की जा सके। परम महत्तावाले परमेश्वर इतने बड़े संसार को कैसे उत्पन्न करते हैं ? ब्रह्माजी पैदा हुये और सृष्टि करने के लिए तप करने लगे। तप के द्वारा सामर्थ्य प्राप्त कर उन्होंने सृष्टि की। सब चीजें तप से प्राप्त होती हैं। तप के रूप चाहे अनेक हों पर सामान्यतः भोग का त्याग करना ही तप है।

तपस्वी और अतपस्वी में से सफल व्यापारी कौन होगा ? जो भोगत्याग करेगा या जो भोग भोगेगा ? ग्राहक भोजन के समय आये और तुम ग्राहक को छोड़ भोजन करने चले जाओ तो ज्यादा कमाओगे या भोजन टाल कर

भी ग्राहक पटाने में लगे रहो तब ज्यादा सफल हो पाओगे ? इसी प्रकार विद्याध्ययन करने वाले को और ज्यादा भोगत्याग करना पड़ता है। इसलिये हम लोग संस्कृत के विद्यार्थियों को पहले ही पढ़ा देते हैं–'विद्यार्थिनः कुतः सुखम् ।' विद्या चाहने वाले को सुख कैसे हो! सुख का त्याग करोगे, भोग का त्याग करोगे, तभी विद्या प्राप्त होगी। भोजन बनाने वाली अगर भोगत्यागी है तो मूँग की दाल भिजाती है। रात में भिजायेगी, सबेरे फिर उसके छिलके धो कर मसलकर निकालेगी। फिर सिल पर पीसेगी और तब उसका हलुवा बनायेगी। जो भोगत्यागी नहीं होगी व पहले ही धुली दाल लेगी और भिजा कर उसे मिक्सी में पीसेगी। खाओ तो फर्क पता लग जायेगा। दिल्ली में तो अब यह स्थिति है कि चटनी भी लोग सिल पर नहीं पीसते हैं। जैसे ही चटनी परोसते हैं उसका पानी अलग बहने लगता है और पता लग जाता है कि यह तपस्विनी की बनाई हुई नहीं है। किसी भी सफलता को प्राप्त करने के लिये तप आवश्यक है।

जब लौकिक चीजों में ही यह बात है तो अत्यधिक बल प्राप्त करने के लिये उसकी जरूरत का तो कहना ही क्या है! सूक्ष्म ताकत को प्राप्त करने के लिये, सूक्ष्म परमेश्वर की प्रसन्नता के लिये घोर तप की आवश्यकता पड़ती है। इसलिये कहा–'तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व'। परमात्मा अतिसूक्ष्म है। अतिसूक्ष्म होने के कारण उसे पाने के लिये दुर्धर्ष तप करना जरूरी है। तपका क्या प्रकार है यह आगे बतलायेंगे।

गजासुर ने दुर्धर्ष तप किया। अन्त में परमेश्वर ने प्रसन्न होकर उसे वरदान माँगने को कहा। उसने कहा 'मैं किसी से मारा न जाऊँ। कामना से उत्पन्न चाहे स्त्री हो या पुरुष हो, उनसे मैं अवध्य ही रहूँ। यही वरदान आप दीजिये।' उसको पता था कि सिवाय परमेश्वर के और सब लोग कामना से ग्रस्त हैं। जो कामना से ग्रस्त नहीं हैं उनके लिये शास्त्र कहते हैं 'साक्षाद्भर्गो नराकृतिः!' जो सर्वथा कामनारहित हैं वे मनुष्यशरीर में साक्षात् भगवान्

शंकर ही हैं। कामना से सर्वथा रहित होना ही परमेश्वर का लक्षण है। उसका तप प्रबल था इसलिये उसको वैसा ही वरदान मिल गया।

जब वरदान मिल गया तो फिर क्या था! उसने देवताओं से युद्ध किया और अपने पिता का बदला लिया। वह देवराज पर हावी हो गया। पहले तो लम्बे समय तक देवता कोशिश करते रहे कि किसी प्रकार हम लोग इसे हरा सकें परन्तु जब देख लिया कि कोई उपाय नहीं है तब वे लोग ब्रह्माजी के पास पहुँचे और कहा 'आपने इसे ऐसा आशीर्वाद दे दिया, ऐसा वरदान दे दिया है कि हम लोग इधर-उधर भटक रहे हैं, हमारा तो कोई सहारा नहीं है। किसी तरह आप इसे निवृत्त करें, शान्त करें।'

ब्रह्माजी ने कहा 'जो वरदान दिया है वह तो अन्यथा नहीं हो सकता है। जब तक यह कोई गलत काम न करे तब तक इसकी निवृत्ति का उपाय नहीं हो सकता।' गीता में भी भगवान् ने कहा है—'समोहं सर्वभूतेषु'। भगवान् कहते हैं कि सारे प्राणियों के प्रति मैं सम हूँ, एक जैसा हूँ। मेरे लिये न कोई द्वेष के योग्य है और न कोई प्रेम के योग्य है। 'ये भजन्ति तु माम् भक्त्या' जो मेरा भजन करते हैं, भक्तिपूर्वक मेरी तरफ आते हैं, उनके लिये मैं प्रिय हूँ। जो इसके विरुद्ध आचरण करते हैं उन लोगों को दीखता है कि परमेश्वर हमसे द्वेष करता है। मैं तो सबके प्रति सम हूँ। इसलिये ब्रह्मा जी ने कहा 'जब तक यह गलत काम नहीं करेगा तब तक चाहे महिषासुर का लड़का गजासुर हो, मेरे द्वारा वध्य नहीं हो सकता, दण्ड्य नहीं हो सकता, दण्ड पाने के योग्य नहीं हो सकता।' देवता लोग जब बहुत दुःखी होने लगे तो ब्रह्माजी ने कहा—'घबराओ मत। है यह असुर का पुत्र, महिषासुर का पुत्र है। वेद कहता है कि पिता ही पुत्र रूप से उत्पन्न होता है। इसलिये पिता के संस्कार पुत्र में जरूर रहते हैं। अतः कहीं न कहीं इसमें असुरभाव आयेगा ही और जब असुरभाव आयेगा तब इसको दण्ड का पात्र बनाया जायेगा, तब तक तुम लोग शान्त रहो।'

धीरे-धीरे गजासुर ने सारे संसार में अपना राज्य कायम कर लिया और सब तरह के भोग भोगता रहा। लेकिन इन्द्रियों पर चूँकि उसका नियन्त्रण नहीं था इसलिये तृप्त नहीं हुआ। इसी की तरफ ब्रह्माजी ने संकेत किया था कि असुर भोग से तृप्त नहीं होता है। जो देव होता है वह भोग से तृप्त हो जाता है। अपने यहाँ शास्त्रों में भी इन्द्रियों को घोड़ा कहा है—'इन्द्रियाणि हयान्याहुः'। घोड़े को संस्कृत में अश्व कहते हैं। अश्व को जहाँ बाँधा जाये, जहाँ स्थिर किया जाये, चलने से रोक दिया जाये, उसे अश्वत्थ कहते हैं। इन्द्रियरूप घोड़े नाम-रूपात्मक संसार से ही बाँधे रखना प्राणियों के लिये सहज है। इसी से संसार को अश्वत्थ कह दिया। पहले जगह-जगह पीपल के पेड़ होते थे। लोग रथों पर जाते थे। घोड़ों को बाँधना पड़ता ही है नहीं तो रात में इधर-उधर चले जायेंगे। पीपल का पेड़ बड़ा होता है इसलिये उससे बाँध देते थे। इस प्रकार उसका नाम अश्वत्थ पड़ गया। इन्द्रिय रूपी घोड़ों को जो हमेशा इस संसार वृक्ष में, नाम रूप में बाँधकर रखेगा वह अजितेन्द्रिय होगा और जो उससे हटाकर इन्द्रियों को रखेगा वह जितेन्द्रिय होगा। जो असुर होता है वह हमेशा भोगपरायण हो जाता है। जब आदमी को तृप्ति नहीं होती तब खुन्दक चढ़ती है। माँ से कहा 'मुझे चाकलेट दे' माँ ने चाकलेट नहीं दी, तो बच्चे के मन में चिड़चिड़ाहट आती है। चिड़चिड़ाहट में आकर जब वह जाता है तो रास्ते में अगर छोटी बहन खड़ी हो तो उसे धक्का दे देता है। यह आदत होती है।

इन्द्रियाँ तो चाहती हैं कि रोज कोई न कोई नई घटना घटे, कोई न कोई नई चीज आये और कोई न कोई नया भोग आवे। हमारे दिल्ली में एक ही पनीर होता है और चीनी की चाशनी होती है। उससे सौ तरह मिठाई बना देते हैं। किसी पर लाल रंग लगा देंगे किसी के ऊपर गोल बना देंगे, किसी को अण्डाकार, किसी को चौकोर, किसी का कोई नाम रख देंगे, किसी का दूसरा नाम। सौ तरह की मिठाइयाँ बनाकर कहेंगे ये नई निकली हैं।

हमारे लिये भी लोग लाते हैं। खाते हैं तो वही पनीर है, वही चीनी है और तो उसमें कुछ है नहीं। थोड़ा बदल दिया तो उसमें रुचि हो जाती है। अजितेन्द्रिय होने से जीव चाहता है नये-नये भोग मिलें। गजासुर को नये-नये भोग अब मिलें कहाँ से ? जो थे वे सब उसने भोग लिये थे। तो अब वह ब्राह्मणों और यतियों को सताने लगा जैसे बच्चा बहन को धक्का मारता है। उसने सोचा 'इन लोगों को सताओ, मजा आयेगा।' थोड़ा बहुत सताने के बाद उसने विचार किया कि जहाँ ब्राह्मण संन्यासी सबसे ज्यादा हैं वहीं जाकर सताओ। ऐसा तो काशी क्षेत्र है। गजासुर काशी पहुँचा, लोगों पर तरह-तरह से अत्याचार करने लगा। काशी के अधिपति भगवान् शंकर हैं। सब लोग भगवान् विश्वनाथ के पास गये और कहा 'आप बचाइये।' भगवान् शंकर त्रिशूल लेकर बचाने के लिये आये। गजासुर ने युद्ध तो बहुत किया किन्तु भगवान् शंकर ने उसे त्रिशूल से भेद दिया और भेद कर ऊपर लटका दिया। जब त्रिशूल के ऊपर लटका दिया तब उसके शरीर का जो खून का हिस्सा था वह सारा बह कर निकल गया। असुर योनि से प्राप्त जो दोष था वह निवृत्त हो गया। दोष निवृत्त होने पर समझ गया मैंने क्या गलती की। त्रिशूल के ऊपर ही लटका हुआ भगवान् शंकर की स्तुति करने लगा। कहने लगा 'मैं नहीं मानता कि आपने मुझे मारा है, आप तो सर्वसम हैं। आपने त्रिशूल से छेद कर मुझे अपना छाता बना लिया है ! हे देव-देव महादेव ! अब मेरा आसुरी भाव निवृत्त हो गया। मैं जानता हूँ आप सबके लिये एक जैसे हैं इसलिये आपने जो मेरे साथ किया उसे मैं ऐसा बिल्कुल नहीं समझता कि वह मेरे नुकसान के लिये है।' बड़ी लम्बी गजासुर ने स्तुति की है। भगवान् शंकर का नाम है आशुतोष। आशु मायने है शीघ्र, तोष मायने खुश हो जाने वाले। भगवान् शंकर उस गजासुर की स्तुति से प्रसन्न हो गये, कहने लगे 'तुमको जो वर माँगना हो माँग लो।' गजासुर ने कहा 'अगर आप वरदान देना चाहते हो तो ऐसा करो : आप हमेशा नंगे रहते हैं। यदि आप प्रसन्न

हैं तो अब आप नंगे मत रहना। मेरे चर्म का वस्त्र बनाकर हमेशा पहना करो।' इसीलिये भगवान् शंकर उस गजासुर का ही वस्त्र बनाकर पहनते हैं। उनका हाथी के चमड़े का ही वसन है। उसने यह भी प्रार्थना की कि वह चर्म कोमल और सुगन्धित बना रहे। किसी प्रकार का मल गज के चर्म पर न आवे और वह सदा सुख देने वाला बना रहे। भगवान् शंकर ने उसकी प्रार्थना मान कर उसके चर्म को पहन लिया। तब से आजतक भगवान् का नाम पड़ा हुआ है कृत्तिवासा। यदि कभी काशी जाओगे तो जहाँ उन्होंने गजासुर का चमड़ा पहना था वहाँ कृत्तिवासेश्वर महादेव का मंदिर अभी भी है। जितने देवता थे उन्होंने भी प्रसन्न होकर भगवान् शंकर की स्तुति की कि हम लोगों को अपना राज्य वापस मिल गया, हम गजासुर से छूट गये।

संसार का प्रकरण चल रहा है। महधातु का अर्थ होता है बढ़ना, विस्तार। इसलिये महिषासुर सदैव जो बढ़ता रहता है उसे बतलाता है। हमेशा बढ़ने वाली चीज है कामना। इसीलिये गीता में कामना को 'अनलम्' कहा है। अलम् मायने पूरा हो गया, बस। अनलम् मायने जिसके लिये कभी नहीं कहोगे कि पूरा हो गया। इसका प्रत्यक्ष रूप देखना हो तो बैंक अकाउन्ट देख लो। पेट भरने के बाद और नहीं खा सकते। चार स्वेटर के बाद कहोगे 'अब नहीं पहनना', क्योंकि अन्दर जलन हो रही है। सब चीजों के लिये तुम्हारे मन में अलम् होगा किन्तु बैंक अकाउन्ट के लिये नहीं होगा! कोई आकर कहे कि दस हजार का गिफ्ट देना है तो नहीं कहोगे 'हमारे अकाउन्ट में बहुत है अब नहीं लेना है।' इससे कहा अनलम् जहाँ कभी भी अलम् की बुद्धि नहीं होती। कामना कभी भी खत्म नहीं होती। कामना जब बढ़ती है तब उसका पुत्र होता है गजासुर। गज में मत्तता आती है। कामना के कारण नशा चढ़ता है। नशे में पता नहीं चलता कि क्या हो रहा है। नशा आने पर विवेक नहीं रह जाता, चीजों को अलग-अलग करके देख नहीं

पाता। कामनावृद्धि से अविवेक होता है। अविवेक से किसी समय गजासुर काशी पर आक्रमण करता है। काशी ज्ञान की भूमि है। ब्राह्मण और यति इनका काम ज्ञानप्राप्ति है। जब काशी में गजासुर पहुँचता है तो भावना, ज्ञान और कर्म के त्रिशूल द्वारा वह भगवान् शंकर के ऊपर छत्र बन जाता है! भावना, ज्ञान और कर्म तीनों वृत्तियों के द्वारा, ज्ञान, इच्छा और क्रिया तीनों के द्वारा जब भगवान् को विषय किया जाता है तब भगवान् के छत्र की तरह होकर कल्याण का भागी बन जाता है। छत्र बनकर जब वह परमेश्वर को ही सब प्रकार से देखने लगता है तब वह अपने सर्वव्यापक रूप को प्राप्त कर लेता है।

यह सर्वव्यापक रूप ही वह ऊर्ध्व या उत्कृष्ट रूप है जिसे यहाँ 'ऊर्ध्वमूलम्' में कहा।

प्रवचन—२

श्रीमद्भगवद्गीता के पन्द्रहवें अध्याय का विचार कर रहे हैं। भगवान् श्री कृष्ण इस संसार वृक्ष का विवेचन कर जहाँ यह संसार दीख रहा है वहीं उसकी वास्तविकता देखने की तरफ ध्यान दिलाते हैं। वस्तुतः वासुदेवात्मक होते हुए भी यह जगत् नामरूपात्मक प्रतीत होता है। इसको समझाने के लिये पहले संसार वृक्ष को कहा ऊर्ध्वमूलम्—इसका जो मूल है, जो कारण है वह ऊर्ध्व है। ऊर्ध्व का तात्पर्य बतलाया कि यह उत्कृष्ट या श्रेष्ठ है। संस्कृत भाषा में यह नियम है कि यदि किसी विशेषण का प्रयोग नहीं किया जाता तब उसका तात्पर्य होता है कि यह निरपेक्ष है। यहाँ पर ऊर्ध्व में यह नहीं कहा कि कितना ऊर्ध्व है, कितना उत्कृष्ट है, कितना श्रेष्ठ है। अतः यहाँ तात्पर्य हुआ कि यह निरपेक्ष रूप से श्रेष्ठ है अर्थात् इससे ज्यादा श्रेष्ठ और कुछ नहीं है। 'सर्वोत्तमत्वाद् ब्रह्मण ऊर्ध्वमिति उपदेशः।' सबसे

उत्तम है, सबसे श्रेष्ठ है। ऐसा नहीं कि अमुक-अमुक चीजों से श्रेष्ठ है, और अमुक चीजों से निकृष्ट भी हो सकता है।

ऊर्ध्व कहने का तात्पर्य होता है जिसे निकाल कर ऊपर कर दिया जाए। जैसे जब हम लोग दही मथते हैं तो दही का जो श्रेष्ठ भाग है मक्खन वह ऊपर आ जाता है। अथवा दूध को गरम करते हैं तो दूध का जो सार मलाई है वह ऊपर आ जाती है। दोनों चीजें मिली हुई हैं, किन्तु मथने से या गरम करने से अथवा और किसी प्रक्रिया के द्वारा जो उसका सार पदार्थ है वह ऊपर आ जाता है। इसी प्रकार जब हम संसार को विचार द्वारा मथते हैं या विचार के द्वारा तपाते हैं तो इसका जो सार परमात्मा है वह ऊपर आ जाता है, स्पष्ट हो जाता है। अन्यत्र उपनिषद् ने कहा है 'ईशा वास्यमिदम् सर्वम्' यह जितना नाम-रूपात्मक जगत् है, इसे परमेश्वर से ढाँक दो आच्छादित कर दो। ईशा अर्थात् परमेश्वर से वास्यम् अर्थात् ढाँक देना है। अब प्रश्न उठता है कि क्या संसार में परमेश्वर नहीं है जो हम परमेश्वर की भावना करके इसको ढाँकें? जिस प्रकार तश्तरी में फल काटे हुये पड़े हैं तो कहते हैं 'भाई, इसको जाली से ढक दो।' जिस जाली से ढकते हो वह फल में तो है नहीं। अतः जो चीज़ जहाँ पर नहीं है उसको लाकर ढाँक देते हैं। तो क्या यहाँ पर भी संसार में परमेश्वर नहीं है और उसे ऊपर से लाकर ढाँकना है ? यदि ऐसा होता तो चाहे तुम १०० साल तक किसी चीज को ढाँक कर रखो, नीचे की चीज़ नीचे ही रहेगी और ऊपर की चीज ऊपर ही रहेगी। जिस ढाँकने को वहाँ बतलाया उसी को यहाँ कह रहे हैं 'ऊर्ध्वमूलम्'।

दही को मथ कर निकला मक्खन उसे ढँक देता है तो वह मक्खन कहीं बाहर से नहीं आया। ऊपर मक्खन ही मक्खन दीखता है, दही तो नीचे छिप जाता है। मक्खन के द्वारा जब दही को ढाँका गया तो मक्खन कहीं बाहर से नहीं आया। वैसे ही दूध पर की मलाई है जो दूध को ढँक देती

है। दिल्ली में बहुत से बच्चे समझते हैं मलाई कोई दूसरी चीज़ है ! वे कहते हैं 'दूध पिऊँगा पर मलाई नहीं लूँगा।' उनको मलाई ढाँकने वाली चीज लगती है। किन्तु वह मलाई कहीं बाहर से लाकर तो दूध में नहीं डाली गई है। वह तो दूध का वास्तविक स्वरूप है। इसी प्रकार जब वेद कहता है परमेश्वर से संसार को ढाँक दो तो यह नहीं कह रहा कि तुम अपने मन से कोई कल्पना कर संसार के ऊपर डाल दो। 'नामरूपात्मक संसार तो जैसा है वैसा ही रहेगा, तुम ऊपर से परमेश्वर से ढक दो'—यह वेद नहीं कह रहा है। उसका कहना है इस संसार को विचार के द्वारा मथ करके, विचार की अग्नि से तपा कर इसका जो सार परमेश्वर है, जो इसमें छिपा हुआ है, उसे प्रकट करो; वह स्वतः ही इस सबको ढाँक देगा। अभी सत्य असत्य से ढका हुआ है, सच्चिदानन्द परमात्मा नाम रूप से ढका हुआ है। दूध के अन्दर पनीले हिस्से के द्वारा मलाई ढकी हुई है। जो साररूप है वह असार चीज से ढका है। इसलिये हमको नामरूप तो दीखता है, परमेश्वर दीखता नहीं। नामरूप के भीतर हमारी अत्यधिक आसक्ति है, वह हमें वहीं रहने वाले परमेश्वर को नहीं देखने देती। विचार जागृत हो जाये तो विचार की गर्मी से अलग होकर, विचार से मथ करके स्पष्ट दीख जायेगा। इसीलिये अन्यत्र उपनिषदों ने कहा है— 'ज्ञाननिर्मथनाभ्यासात्' ज्ञान के द्वारा मथना है। आप लोग तो गाँव के रहने वाले हो। मथानी को एक बार हिलाओगे तो मक्खन निकल आयेगा क्या ? लम्बे समय तक उसको मथना पड़ता है तब मक्खन निकलता है। इसीलिये कहा 'ज्ञाननिर्मथनाभ्यासात्' अभ्यास अर्थात् जब ज्ञान का आवर्तन करोगे तब जो नामरूप के प्रति आसक्ति है वह जलेगी।

हम लोग प्रायः समझते हैं कि चीज जैसी दीखे वैसी होती है। कहते हैं हनूमान् जी ने भी एक रामायण लिखी थी। जब हनुमान् जी को पता लगा कि महर्षि वाल्मीकि जी ने रामायण लिखी है तो उन्होंने विचार किया

कि उनसे अपनी रामायण को मिला लेना चाहिये कि कोई ऐसी वैसी बात हो तो ठीक कर लेंगे। हनुमान् जी ने जाकर वाल्मीकि जी से कहा 'मैंने भी एक रामायण लिखी है।' वाल्मीकि जी ने कहा 'बहुत अच्छा किया भाई।' पुराने जमाने में किताबें व्यापार के लिये नहीं लिखी जाती थी। आजकल तो जो किताब हमने लिखी वही तुमने लिखी तो आपस में द्वेष होगा। यदि कहीं तुम्हारी किताब बिक गई तो हमारी रह जायेगी ! छपाई होने के पहले लिखने वालों में किसी प्रकार का द्वेष नहीं होता था क्योंकि इससे व्यापार का कोई सम्बन्ध नहीं था। हनुमान् जी ने कहा 'हम इसलिये आये थे कि अपने दोनों मिला लें, कोई चीज किसी से छूट गई हो तो दोनों पूरी कर लें।' वाल्मीकि जी ने कहा 'यह किताब रखी हुई है, देख लो। मेरे को तो कोई संदेह है नहीं।' हनुमान् जी उनकी रामायण लेकर अपनी रामायण से मिलाने लगे। सारी बातें करीब-करीब एक ही थीं परन्तु जब प्रसंग आया कि हनुमान् जी लंका गये उस समय वाल्मीकि जी ने वर्णन किया था अशोक वाटिका इत्यादि और अन्य स्थलों के अन्दर कैसे-कैसे फूल और फल खिल रहे थे। सारे फूलों के रंग बताये थे कि कोई सफेद था, कोई पीला। हनुमान् जी ने अपनी रामायण में लिखा था लंका में फूल लाल ही लाल थे, पत्ते भी लाल थे। हनुमान् जी ने वाल्मीकि जी से कहा 'यहाँ तो गड़बड़ कर दिया है ! आप तो यहाँ रहते हो, लंका तो गये नहीं। आपको पता नहीं कि राक्षसों का देश है, वहाँ सब लाल ही लाल होते हैं, फूल पत्ते सभी। तो इसे ठीक कर लो।' वाल्मीकि जी ने कहा 'मेरा लिखा हुआ गलत नहीं हो सकता। जो कुछ लिखा है वह सर्वथा समाधि के द्वारा प्रत्यक्ष कर लिखा है। इसलिये मैंने जो भी लिखा है वह ठीक ही है।' हनुमान् जी ने कहा गजब हो गया! मैं खुद वहाँ जाने वाला, मैं ही देखने वाला, और मेरी ही बात ये काट रहे हैं! जब वाल्मीकि जी नहीं माने तो हनुमान् जी ने कहा भगवान् राम से इसका निर्णय करा लिया जाये। वाल्मीकि जी ने कहा 'ठीक

है, चलो।' दोनों पहुँचे भगवान् राम के पास। रामचन्द्र जी ने बड़े आदर के साथ उठकर महर्षि वाल्मीकि जी को बैठाया, कहा, 'आप कैसे पधारे ?' उन्होंने कहा'जी ये हनुमान् जी मेरी बात नहीं मानते हैं। ये ही मुझे यहाँ लाये।' 'क्या बात नहीं मानते हैं?' 'मेरी रामायण में मैंने लंका की वाटिका आदि का जो रंग-बिरंगे फूल आदि होने का वर्णन किया है उस पर ये कहते हैं सब लाल ही लाल था। अतः आपके पास निर्णय कराने आये हैं।' हनुमान् जी ने कहा 'महाराज! मैं वहाँ गया था और ये मानते ही नहीं!' भगवान् ने विचार कर कहा 'वाल्मीकि जी ने जो लिखा है वही ठीक है। वहाँ पर भिन्न-भिन्न रंग के फूल थे।' हनुमान् जी ने कहा 'महाराज! आप तो ब्राह्मणों का पक्ष लेते हो। इसलिये आपने इनका पक्ष ले लिया। मैं स्वयं गया था। आपको पक्षपात करना उचित नहीं।' रामचन्द्र जी ने कहा 'भाई पक्षपात की बात नहीं। मैंने ठीक बात कही है। तू जब वहाँ गया था तब तेरे अन्दर भयंकर क्रोध होने के कारण तेरी आँखें लाल सुर्ख हो गई थी! इसलिये क्रोध से प्रभावित तेरी आँखों की जो लाली थो उससे तुझे सारे फूल लाल दिखाई दिये।'

थोड़ा विचार करके देखोगे, थोड़ा ज़ोर डालोगे तो समझ जाओगे। आकाश कहते हैं खाली जगह को। यहाँ से खम्बे तक देखो तो बीच में क्या है? आकाश है। आकाश में कोई रंग हुआ नहीं करता। यहाँ देखो खाली जगह है, बीच में कोई रंग नहीं है। आकाश का कोई रंग नहीं होता। अब ऊपर देखो तो आकाश नीला दिखाई देता है। बादलों के होने पर नीला दीखे तो ठीक है पर जब तारे निकले हुये हैं तब भी नीला क्यों दीखता है ? शास्त्रकार कहते हैं कि आँख के अन्दर हमारा जो डोया नीला है, इसी के कारण आकाश नीला दीख रहा है। वैसे ही हनुमान् जी की आँखों में ललाई थी, उसके कारण सारे पदार्थ लाल रंग के दीखे परन्तु पदार्थ लाल थे नहीं। वाल्मीकि जी ने जो कुछ देखा समाधि में देखा। समाधि में रागद्वेष

रहता नहीं। बिल्कुल शुद्ध अन्तःकरण होगा तभी समाधि होगी। इसलिये उन्होंने जैसी चीज थी वैसी देखी और वैसा ही लिख दिया। भगवान् ने हनुमान् से कहा 'तुमने रागद्वेष के साथ देखा इसलिये तुम्हारा देखना ठीक नहीं। मैंने कोई पक्षपात की बात नहीं की।' हनुमान् जी समझ गये कि समाधि के द्वारा लिखी गयी रामायण से कोई दूसरी रामायण श्रेष्ठ नहीं हो सकती। इसलिये उन्होंने अपनी रामायण को नष्ट कर दिया। उसका कुछ हिस्सा हनुमन्नाटक नाम से बचा रह गया।

यहाँ तो बतला रहे थे कि रागद्वेष से जब हम किसी चीज को देखते हैं तो उसकी असलियत ढक जाती है। इसी प्रकार हमको संसार के नामरूपों के प्रति जो आसक्ति या रागद्वेष हैं, इनके कारण नाम रूप में रखा हुआ जो सच्चिदानन्द परमात्मा है वह हमको नजर नहीं आता, मानो उससे ढक जाता है। बड़ी सीधी सी बात है। तुम बड़े जोर शोर से कहते हो 'सामने खम्भा है।' क्या दीख रहा है आँख से ? खम्बा है। तो बताओ खम्भा गोल, लम्बा, ठोस दीख रहा है पर 'है' यह तुम्हें आँखों से कैसे दीख रहा है? 'है' के कौन-से रंग-रूप हैं जो आँखों से दीख रहे हैं ? कल गुझिया का प्रसाद लिया। गुझिया बड़ी मीठी है इस बात को तो जीभ ने देख लिया। कितनी मीठी है यह जीभ से ही पता लगेगा, आँख से तो पता लगेगा नहीं। गुझिया, मीठी है यह तो जीभ ने देखा पर यह "है" किसने देखा ? इस प्रकार हम "है" हर चीज में देखते हैं किन्तु गुझिया, रूप, स्वाद हमको इतना आकर्षित कर लेते हैं कि वहीं पड़ा हुआ जो "है" उसकी तरफ ध्यान नहीं जाता। यदि विचार करके देखो तो 'गुझिया है' में सबसे प्रधान चीज "है" है। अगर है न हो, अर्थात् 'गुझिया नहीं है', तो गुझिया चाहे जितनी मीठी हो तुम्हे उसका पता नहीं लग सकता है। गुझिया है तब उसकी मिठास आदि सारी चीजें हैं। इसी प्रकार खम्बा है तो उसमें रंग भी है उसकी लम्बाई भी है, वह गोल भी है, सब कुछ है कब? जब है। अगर "है" हट जाये, अर्थात्

'खम्बा नहीं है', तो सबका सब क्या रह जायेगा? किसी की कोई कीमत नहीं। इसी प्रकार गाना है तब तो गाने के स्वर,लय, ताल सबकी कीमत है, और यदि "है" हट गया, 'गाना नहीं है', तो स्वर लय ताल भी नहीं हैं। यह "है" सब चीजों में एक जैसा विद्यमान है। इसी को भगवान् ने कहा 'वासुदेवः सर्वमिति' सब चीजों में वासुदेव है।

शंका होती है–कैसे है परमेश्वर सव चीजों में ? सब चीजों को खोल-खोल कर देखते हैं, कहीं हमको परमेश्वर तो नजर आता नहीं। मोलीक्यूल्स तक चले गये, एटम्स तक चले गये, इलेक्ट्रान्स, प्रोटोन्स तक चले गये, चाहे जितना अन्दर घुसते चले गये, सब चीजें दीखती हैं। भगवान् तो अभी तक किसी को दीखा नहीं। फिर कैसे कहते हैं कि सब चीजों में भगवान् विद्यमान है ? अस्तिरूप से सबमें परमेश्वर विद्यमान है। यह बतलाओ कि "है" कहीं आधा, चौथाई होता है क्या ? खम्भा तो आधा हो सकता है, लेकिन आधा खम्भा भी तो है, उसमें तो कोई कमी नहीं आई। यदि खम्भा दुगना हो जाये तो भी खम्भे का 'है', कुछ बढ़ता नहीं है, दुगना नहीं हो जायेगा। सब चीजों में है तो सर्वथा अविकारी ही बना रहेगा, विकाररहित बना रहेगा। इस प्रकार सब चीजों में एक जैसा रहने वाला यह परमेश्वर का स्वरूप है। परन्तु यह रागद्वेष तथा नामरूप से ऐसा ढका रहता है। हम बाकी सब चीजों पर ध्यान देते हैं और जो असली चीज है उसकी तरफ नहीं। इसीलिये आचार्य शंकर लिखते हैं–'त्वत्तो जगद् भवति देव! भव! स्मरारे! त्वय्येव तिष्ठति जगन्मृड! विश्वनाथ!' हे देव आपसे ही सारा जगत् उत्पन्न होता है। आप हैं तो फिर सारा जगत् उत्पन्न हुआ। यदि "है" न होता तो आगे कोई चीज पैदा नहीं होती। जो भी चीज पैदा हुई देखते हो उसके पहले कोई न कोई दूसरी चीज है। बिना कारण के कहीं कार्य उत्पन्न होता नहीं, तो पहले कारण है तब कार्य। बिना है के कुछ उत्पन्न होता नहीं। भगवान् शंकर को संबोधन करते हुये कहते हैं कि हम

लोग इस बात को क्यों नहीं समझते ? 'स्मरारे!' आप तो स्मर अर्थात् कामनाओं के अरि हैं, कामनाओं को नष्ट करने वाले, और हम कामना से ग्रस्त हैं। इसलिये हमारी समझ में नहीं आता। बिना है के कुछ उत्पन्न नहीं होता। परन्तु हम "है" के सिवाय किसी न किसी दूसरी चीज को ही कारण मानते रहते हैं। आप स्मरारि हैं, आप ही हमारी कामनाओं को नष्ट करने में समर्थ हैं। आप हमारी कामना नष्ट कर दें तो हमारी समझ में यह बात आ जाये। जब तक विषयों से दृष्टि हटा कर मूलकारण पर हम दृष्टि नहीं ले जायेंगे, तब तक समझ में नहीं आयेगा। इसलिये भगवान् मूलकारण की तरफ दृष्टि ले जाने को कहते हैं 'ऊर्ध्वमूलम्'। बुद्धि के अन्दर जो मोह, अविवेक होता है उसी अविवेक के कारण हमारी मूल की ओर दृष्टि बन नहीं पाती।

प्राचीन काल में एक ब्राह्मण की लड़की थी ऋषीका। पहले बचपन में ब्याह हो जाया करता था। वह भी बिल्कुल बच्ची थी तभी उसका ब्याह हो गया। ब्याह के बाद वे लोग जा रहे थे, आजकल जिसको तुम लोग 'डोली जाना' कहते हो। पुराना जमाना था, पालकी में बैठकर जाना पड़ता था। एक जगह पहाड़ पर बड़ा टेढ़ा मोड़ था, पालकी ढोने वालों में जो सामने वाला था उसको ख्याल नहीं रहा और पगडंडी के किनारे जो खाली जगह थी वहाँ पैर रख दिया। नतीजा यह हुआ कि पालकी उलट कर खड्डे में गिर गई। ऊँचा पहाड़ था। जिस तरफ खड्डा था उस तरफ पति बैठा हुआ था और दूसरी तरफ पत्नी बैठी हुई थी। पालकी में दोनों तरफ खुली जगह होती है, अधिक से अधिक पर्दे से ढाक देते हैं। पति उस तरफ होने से खड्डे में चला गया और वह स्वयं पगडंडी की ओर उचक कर पड़ी तो बच गई। दुःखी होकर सब घर आये। उसने विचार किया कि 'अब पति का सुख मुझे नहीं है तो मैं परमेश्वर के ध्यान में ही लगूँगी।' माता पिता से आज्ञा लेकर वह वन में जाकर तपस्या करने लगी। तपस्या करते-करते कुछ

वर्ष बीत गये। उधर से मूढ नाम का दैत्य निकला। जवान स्त्री को देखकर उसके हृदय में दुर्भावना आ गई। उसने कहा 'तू मुझ से विवाह कर ले।' उसने कहा 'भाई! मेरा तो विवाह हो चुका है, मुझे अब फिर विवाह करने की इच्छा भी नहीं है। तू अपने रास्ते जा। मैं तपस्या कर रही हूँ।' परन्तु वह दैत्य ठहरा। उसके साथ जबर्दस्ती का व्यवहार करने लगा। उसने भगवान् शंकर से प्रार्थना की 'भगवन् मेरे नियम को आप ही बचा सकते हैं।' उसकी शुद्ध भावना के कारण भगवान् शंकर वहाँ आविर्भूत हो गये और जो कामना से विह्वल हुआ मूढ नामक दैत्य था उसे उन्होंने तुरन्त भस्मीभूत कर दिया। ऋषीका ने भगवान् की बड़ी सुन्दर प्रार्थन की। भगवान् शंकर ने कहा 'तुम्हारी कोई और इच्छा हो तो माँग लो। दैत्य को तो भस्म कर दिया।' उसने कहा 'मुझे और कुछ नहीं चाहिये, आपके चरणकमलों में कभी नष्ट न होने वाला प्रेम आप दे देवें।' इस प्रकार ऋषीका का रक्षण हुआ। यह है भगवान् शंकर की दयालुता।

केवल उसी को ऋषीका नहीं समझना; वह तो एक हुई। महर्षि यास्क निरुक्त में लिखते हैं : पहले ऋषि लोग यहाँ थे तो लोगों को कोई शंका होती थी तो उनसे पूछ लेते थे। पर जब वे भूतल को छोड़कर जाने लगे तब लोगों ने प्रार्थना की 'आप अगर चले जायेंगे तो हमारा मार्ग-दर्शन कौन करेगा ? हमें रास्ता कौन बतायेगा ?' ऋषियों ने कहा 'हम लोग जाकर एक ऋषि भेजेंगे जो हमेशा तुम्हारे साथ रहेगा।' उन्होंने वहाँ जाकर 'युक्ति' रूप ऋषि को भेजा। महाराजा मनु कहते हैं 'युक्तिहीनविचारेण धर्महानिः प्रजायते।' यदि मनुष्य युक्ति से रहित होकर विचार करता है तो सब कुछ उलटा कर देता है। धर्म का लाभ करने की जगह धर्म की हानि कर देता है। युक्ति रूप ऋषि को ऋषियों ने भेजा जो हमेशा हमारी मदद करे। युक्ति स्वयं भी स्त्रीलिंग शब्द है संस्कृत में; रहेगी भी युक्ति बुद्धि में, बुद्धि से ही युक्ति का विचार होगा। इसलिये यहाँ पर उसको ऋषीका लड़की रूप

से बतला दिया। युक्ति किसी भी धव से रहित है, विधवा है, मालिक से रहित है। युक्ति दुधारी तलवार होती है। उससे तुम चाहो तो अपने को मार लो, चाहे सामने वाले को मार लो। युक्ति का कोई अधिपति नहीं है, युक्ति का कोई धव नहीं है। इसलिये महर्षि वेदव्यास के ब्रह्मसूत्र में लिखा है कि तर्क की कोई प्रतिष्ठा, टिकाव नहीं है। केवल तर्क के भरोसे कभी भी किसी चीज का निश्चय नहीं किया जा सकता। तर्क की प्रतिष्ठा नहीं। आचार्य शंकर इसके ऊपर भाष्य लिखते हुए कहते हैं कि एक आदमी युक्ति से एक बात सिद्ध कर देता है, थोड़े दिनों के बाद दूसरा आकर उसकी बात काट देता है, थोड़े और दिनों बाद कोई और आता है जो दूसरे वाले की बात काट कर फिर पहले वाले की बात सिद्ध कर देता है! यह निश्चय कैसे हो कि आगे कोई तुम्हारी बात नहीं काटेगा ? जरा मजाक के लहजे में कहते हैं कि सृष्टि के आदि से लेकर अन्त तक जितने भी तार्किक हैं सबको एक बन्द कमरे में बैठा दो तब भी शायद वे किसी फैसले पर पहुँच सकें या न भी पहुँचें ! तर्क की प्रतिष्ठा, धव नहीं है। जब उसने भगवान् शंकर को, परमेश्वर को, सामने रखा तभी वह रक्षित रही। युक्ति का अर्थ विचार करना है। यह जो ऊर्ध्वमूल है, जो संसार का कारण परमेश्वर है, उसको सिद्ध करने के लिए युक्ति का प्रयोग करना है, उसका विरोध करने के लिये नहीं। मूढ नाम का दैत्य इस ऋषीका के साथ बलात्कार करना चाहता है। मूढ का मतलब होता है जिस आदमी में विवेक न होवे, मूर्ख। तो जो मूढ व्यक्ति है, अविवेकी है युक्ति को बलात् परमेश्वर से अलग कर अपना भोग्य, अपने अनुकूल बनाना चाहता है। ऐसी परिस्थिति में जहाँ युक्ति का निवास है वह तुम्हारी बुद्धि परमेश्वर की तरफ अपनी दृष्टि स्थिर रखेगी तब तो परमेश्वर का आविर्भाव होकर वह युक्ति बच जायेगी। वह युक्ति तुमको परमेश्वर के चरणों में अनपायी भक्ति देने में समर्थ हो जायेगी। और अगर वह ऐसी निश्चित अवस्था वाली नहीं हुई तो भटक जायेगी।

इसलिये कहा कि युक्ति के बिना कार्य नहीं परन्तु युक्ति को हमेशा ऊर्ध्वमूलम्—यह जो उत्कृष्ट मूल परब्रह्म परमात्मा है उसको समझने के लियें प्रयोग करना है, विपरीत नहीं। युक्ति के द्वारा संसार को ही मथ कर इसके अन्दर छिपा हुआ जो परमात्मरूप है वह प्रकट होकर इसको ढाक दे इसी के लिये साधना है।

प्रवचन—३

संसार वृक्ष का वर्णन कर रहे हैं। यह संसार वृक्ष कहाँ निकलता है? 'ऊर्ध्वम्' जो सवसे उत्कृष्ट है, उत्कृष्टतम तत्त्व है, जिससे आगे और कुछ भी श्रेष्ठ नहीं, सव चीजों का सारस्वरूप परब्रह्म है, वही इसका मूल बन जाता है। जव वह अपनी माया शक्ति के द्वारा अपने आप को प्रकट करता है तब उसे मूल कहते हैं। मूल बनने पर भी वह ऊर्ध्व तो बना ही रहता है। ठीक जिस प्रकार साँप जव चल रहा है तब और जब कुंडली मार पड़ा है तब सर्प में कोई फर्क नहीं पड़ता। चलता हुआ और कुण्डली मारा हुआ सर्प दो साँप नहीं हैं। एक ही साँप जब चलने का कार्य करता है तब चलता हुआ दीखता है, जब शांति से चुपचाप बैठ जाता है तब वह कुण्डली मारा हुआ दीखता है पर है दोनों समय साँप ही। उसी प्रकार ब्रह्म माया द्वारा अपने आपको अनेक नाम-रूपों वाला दिखलाता है। शास्त्रीय भाषा में कहते हैं कि कारणभूत व्रह्म माया से शवल है। शवल का मतलब है चित्रित। किसी कागज पर तुम चित्र वना देते हो : रामजी का चित्र है, साथ में हनुमान् है, पेड़ है, नदी है, धनुष है, इन सब चीजों से चित्रित हुआ वहाँ है क्या? कागज ही है। कागज के सिवाय वहाँ कुछ नहीं है। चित्र के द्वारा शवल हो गया है, अनेक रूपों वाला दीख रहा है। क्या चित्र बनने से वहाँ राम आ गये, धनुष आ गया, नदी, पेड़ आ गये, चन्द्रमा आ गया ? कागज ही कलाकार की कलम से इन सारे रूपों में दीखते हुए भी कागज ही बना

रहता है। इसी प्रकार उस परमात्मा को मायाशबल कहते हैं जो माया से चित्रित हुआ है। जब एक सामान्य कलाकार एक ही कागज पर राम, धनुष, नदी, पहाड़, चन्द्रमा इत्यादि न जाने कितनी चीजों को प्रकट कर देता है, तो वह जो अनन्तशक्ति वाला है अगर इतने ज्यादा चित्रों को बना देता है तो यह कोई आश्चर्य नहीं। कागज में जैसे कोई फरक नहीं आता, कागज चित्रित होने पर भी कागज ही है, इसी तरह वह परमेश्वर माया के द्वारा अनन्त कोटि ब्रह्माण्डों से चित्रित हुआ होने पर भी उसमें कोई फर्क आता नहीं।

यह जो माया उपाधि के द्वारा वह अनेक रूपों वाला बनता है, इसी को बीजावस्था कहते हैं। बीज तभी कहा जायेगा जब आगे किसी चीज को उत्पन्न करने वाला हो। बीज कई बार अत्यन्त छोटा होता है। छान्दोग्योपनिषद् में गुरु-शिष्य संवाद आया है। पहले बड़े वैज्ञानिक ढंग से पढ़ाते थे। गुरु ने कहा, 'सामने बरगद का पेड़ है, वटवृक्ष है। वहाँ से एक फल तोड़ कर लाओ।' शिष्य गया, फल तोड़ कर ले आया। बरगद का पेड़ देखा होगा आपने। पेड़ तो बहुत बड़ा होता है, उस पेड़ की शाखायें नीचे आकर फिर दूसरा पेड़ बन जाती हैं। कलकत्ते में वनस्पति विभाग का एक बहुत बड़ा बगीचा है, बोटेनिकल गार्डन, वहाँ एक वटवृक्ष है जिसका घेरा एक मील का है! एक किलोमीटर नहीं समझना, पुराना मील, आठ फरलाँग वाला; उसके बीच में मोटरें चलती हैं। साधारण आदमी के लिये यह कहना कठिन है कि इसका मूल कौन सा है और बाद में होने वाले तने कौन से हैं, क्योंकि वे एक के बाद एक निकलते जाते हैं। ऐसे फैलने वाले बरगद के पेड़ पर वटवृक्ष का फल छोटा होता है। उसमें जो बीज वाला हिस्सा होता है, वटधान वह और भी छोटा होता है, राई से भी छोटा। एक फल के अन्दर अनेक बीज भरे होते हैं। गुरु ने कहा, 'इसमें से एक बीज लो और देखो कि इसमें क्या दीखता है।' शिष्य ने उसमें देखा और कहा,

'जी इसमें तो कुछ भी नहीं दीखता।' तब फिर गुरु ने कहा 'तोड़कर देख, अन्दर कुछ होगा।' उसे भी तोड़कर देखा तो उसमें भी कुछ नहीं दीखा। गुरुजी बोले 'जहाँ कुछ नहीं दीख रहा, वहाँ ऐसे अनन्त पेड़ हैं।' सामने जो पेड़ है उसमें अनन्त पेड़ भरे पड़े हैं, दीखता तो कुछ भी नहीं है। इसके बीज को अच्छी तरह से गाड़ो तो उसमें से एक पेड़ निकलेगा; उस पेड़ के अन्दर फिर लाखों बीज निकलेंगे और उन बीजों में से हरेक में से आगे फिर बीज पैदा करने का सामर्थ्य है। अब कहाँ छिपा हुआ है पेड़? उसी बीज में, जहाँ कुछ भी नहीं दीख रहा है। गुरु कहते हैं—'श्रद्धस्व सौम्य!' 'हे शिष्य! जो बात मैं कह रहा हूँ उसको श्रद्धापूर्वक समझो, बात अत्यन्त सूक्ष्म है।' शिष्य ने कहा 'पता कैसे लगे ? आप कह रहे हैं पर आँख से तो दीखता नहीं।' उन्होंने कहा 'ऐसा कर, घर से जाकर एक नमक की डली लेकर आ।' वह जाकर नामक की डली ले आया। कहा 'एक लोटा पानी ले आ।' एक लोटा पानी भी ले आया। कहा 'अब इस डली को पानी में डाल दे।' नमक की डली पानी में डाल दी। 'अब इस पानी को अलमारी में बन्द करके, ताला लगाकर चाभी अपने पास रख ले।' जब अगले दिन आया तो कहा 'अब उस लोटे को निकाल।' लोटे को निकाला। 'कल तूने इसमें नमक की डली डाली थी, उसे देख, ढूँढ़ कर निकाल कहाँ है।' शिष्य ने कहा 'जी वह तो इसमें नहीं है।' गुरु ने कहा 'अरे ध्यान से देख तू कल ताला बन्द करके गया था, कोई चोरी तो करके नहीं गया ? निकाल उसमें से।' शिष्य कहता है 'जी बहुत ध्यान से देख रहा हूँ, हाथ लगाकर भी देख रहा हूँ पर नमक की डली नहीं है।' 'तुम्हे बिल्कुल नहीं दीख रही?' बोला 'बिल्कुल नहीं दीख रही।' गुरुजी बोले 'उसी में है। ऐसा कर, ऊपर से पानी लेकर जीभ में लगा।' ऊपर से पानी लेकर जीभ में लगाया। पूछा 'कैसा लग रहा है ?' 'नमकीन लग रहा है, खारा लग रहा है।' 'अगल से, बगल से, दाहिने से, बाँयें से निकाल, चखकर देख।' जिधर से भी चखा जाता है,

नमकीन ही है। गुरु ने कहा 'अब विचार कर। तूने डाली तो थी नमक की डली जो आँखों से देखी जा सकती थी। वही नमक अब आँख से तो नहीं देखा जाता परन्तु जीभ से देखा जा रहा है।' जीभ से चारों तरफ नमक ही है तो सारे पानी में नमक मिला हुआ है, परन्तु उसका पता जीभ से लगेगा। यदि कोई कहे आँख से दीखने से पता नहीं लगा तो कैसे मान लें, तो कहना पड़ेगा कि देखने का ढंग अलग है। गुरु ने समझाया 'इसी प्रकार जिस वटवृक्ष के बीज में वटधान में, मैंने कहा था कि सारा वृक्ष है, जब तक इसे बोकर अंकुरित कर बड़ा करके नहीं देखेगा तब तक आँख से वृक्ष दीखेगा नहीं। देखने के लिये तो बीज को बोना पड़ेगा, उगाना पड़ेगा। यही तरीका है देखने का। खाली बीज में झाँकते रहोगे तो कुछ नहीं दीखेगा।'

जैसे नमक की डली को देखने का तरीका चखने का हुआ ऐसे ही यह सारा संसार वृक्ष है परमेश्वर से निकला, परन्तु बीज अत्यन्त सूक्ष्म है। यदि इसके वृक्ष रूप को समझना चाहोगे, यदि इसके अन्दर विद्यमान जो परमतत्त्व है उसको जानना चाहोगे, तो जैसा कल बतलाया था 'ध्याननिर्मथनाभ्यासात्' जब दीर्घकाल तक ध्यान का अभ्यास करोगे तब ही वह दीखेगा। ध्यान के द्वारा वह यहाँ आयेगा ऐसा मत समझ लेना! बीज बोने से पेड़ कहीं बाहर से आने वाला है नहीं। यदि बाहर से आने वाला हो तो बिना बीज के ही वहाँ ले आओ। इसी तरह पानी में नमकीन स्वाद कहीं बाहर से नहीं आया है। इस प्रकार इस सारे संसार के अन्दर परमेश्वर तो कण-कण और क्षण-क्षण में विधमान है, परन्तु उसको देखने के लिये साधना करके जब तक चित्त को योग्य नहीं बना लोगे तब तक उसे नहीं देख सकोगे। वट का जो बीज है वह अव्यक्त है, दीखता नहीं, प्रकट नहीं। अति सूक्ष्म है, अत्यन्त छोटा, अविज्ञेय है। साधारण दृष्टि से उसका अनुभव करना चाहें तो लगता है अविज्ञेय है। परन्तु ऐसा होने पर भी वह अपार शक्ति से सम्पन्न है। इस सारे सृष्टि प्रपंच को प्रकट करने की अनन्त शक्ति उसके अन्दर

है। यदि वह अविज्ञेय है तो प्रश्न होता है कि हम उसको कैसे जान सकते हैं, अविज्ञेय को जाना कैसे जाये ? दोनों तरह की बातें शास्त्रों,में मिलती हैं। वह परब्रह्म परमात्मा मन-वाणी का विषय नहीं। न उसको वाणी से कह सकते हैं, न उंसको मन से जाना जाता है। और यह भी कहा है कि मन के द्वारा ही जाना जाता है। 'मनसैवेदमाप्तव्यम्'। 'औपनिषदम् पुरुषम्' उपनिषद् के शब्दों से ही जिसको जाना जाता है। मन के द्वारा ही उसको देखना है। 'एषोणुरात्मा चेतसा वेदितव्यः' इस सूक्ष्म आत्मतत्त्व को मन से ही जानना है। प्रश्न होता है कि मन-वाणी का विषय नहीं और यह भी कि मन-वाणी का विषय है, दोनों बातें एक साथ कैसे ? विचार करो : कमरे के अन्दर कोई बन्द होकर बैठा है, कमरा बन्द करके बैठा है। अब तुम चाहो कि उसको तुम देख लो तो नहीं देख सकते। परन्तु वह दरवाजा खोल कर अपने को दिखा दे तो दीख जायेगा। इसी प्रकार परमात्मा जब अपने आपको प्रकट करता है तब वह मनवाणी का विषय हो जाता है। जब तक वह आवरण वाला होता है, ढका हुआ होता है, तब तक उसका पता चलता नहीं। वह है अपार करुणामय। उसकी दया इतनी है कि जैसे ही हम उसके कमरे के सामने जाते हैं वह तुरन्त दरवाजा खोल देता है! बिना उसका आवरण हटे उसे कभी भी नहीं जाना जा सकता। उसने स्वयं जैसे सारा संसार प्रकट किया वैसे ही अपने को जानने के तरीकों को भी खुद प्रकट किया। ब्रह्मसूत्रों में ब्रह्म का लक्षण किया—जिससे जगत् उत्पन्न होता है, जिसमें स्थित रहता है, जिसमें लय होता है वह ब्रह्म है। सारी सृष्टि को उत्पन्न जब उन्होंने किया तो उसमें ही शास्त्र भी है, वह भी उत्पन्न हो गया। लेकिन व्यासजी को सन्तोष नहीं हुआ। अगले सूत्र में ही बतलाया 'शास्त्रयोनित्वात्'। उस परमात्मा ने वेद प्रकट किया। जब सब कुछ उत्पन्न किया कह दिया तो वेद भी उसी में आ गये, अलग से 'शास्त्रयोनित्वात्' सूत्र क्यों ? जब यह सारा जगत् उसने उत्पन्न किया तब तो अपने आपको

ढक कर, आवरण कर किया। सारी सृष्टि उसने उत्पन्न की है अपने आपको ढक कर। बन्द कमरे में बैठा हुआ है। उसने सोचा—मैं अन्दर बन्द कमरे में बैठा हुआ हूँ, मेरा पता किसी को लगेगा कैसे ? अतः उन्होंने वेद रूप शब्दराशि दी। उन्होंने वेद के द्वारा अपने को प्रकट किया। इसलिये उसको औपनिषद पुरुष कहते हैं। मनुष्य अपनी वाणी से उसको कहना चाहे तो नहीं कह सकता है, प्रकट नहीं कर सकता है। परमेश्वर ने अपनी ही वाणी से अपने को प्रकट किया। अपने जानने के सारे साधन उन्होंने बता दिये। आवरण कैसे नष्ट होगा यह उन्होंने बतलाया। जब वे दया कर हमारे अन्तःकरण में आरूढ हो जाते हैं, तभी हम मन के द्वारा उनको जान सकते हैं।

जैसे एक आतशी शीशा होता है जिसे उन्नतोदर काँच या कॉनवेक्स लेंस कहते हैं। आतशी शीशे को या सूर्यकान्तमणि को सूर्य के सामने कर तुम घास के ऊपर उसकी किरणों को एकाग्र करो, फोकस करो, तो घास के तिनके जल जाते हैं। देखा ही होगा। कहने को कह दिया जाता है कि सूर्यकान्तमणि ने या आतशी शीशे ने घास को जला दिया। पर क्या सूर्यकान्तमणि ने जलाया ? यदि सूर्यकान्तमणि जलाती तो वह रात को भी जला सकती। आतशी शीशा यदि जलाने की सामर्थ्य वाला है तो रात के अंधेरे में भी उसे जलाना चाहिए। पर नहीं जलायेगा। तभी जलायेगा जब सूर्य उसमें केन्द्रित हो जायेगा, फोकस हो जायेगा। तो घास को जलाने वाला कौन है ? सूर्य है। आतशी शीशा तो उसमें एक माध्यम है। इसी प्रकार कह दिया जाता है कि मन से परमात्मा को देखो परन्तु उसे मन नहीं देखता है। मन में उपारूढ हुआ जो शिव है वही तुम्हारे ज्ञान का कारण बनता है। किसी पेड़ के नीचे यदि घास लगी हो तो बढ़ती नहीं। बार-बार घास लगाओ पर वह सूख जाती है। पानी डालते हो, खाद देते हो फिर भी नहीं चलती। किसी माली से पूछो 'अरे भाई! हमारी घास क्यों सूख जाती है?'

वह कहता है 'आपने ऊपर इतने पेड़ लगा रखे हैं इनकी छाया में घास कहाँ से उगेगी ! घास आगे बढ़ेगी नहीं।' घास को तो सूर्य की रोशनी मिलेगी तभी न घास आगे बढ़ेगी। छाया में तो घास आगे बढ़ेगी नहीं।' अब प्रश्न उठता है कि घास को जलाने वाला कौन ? सूर्य। घास को पुष्ट करने वाला कौन ? तो सूर्य। अगर सूर्य सीधा पड़ता है तो घास बढ़ती है। आतशी शीशे के द्वारा, सूर्यकान्तमणि के द्वारा पड़ता है तो घास जलती है। इसी प्रकार इस सारे संसार को अनन्त रूपों में बनाने वाला कौन ? वही परमात्मा। और यदि तुमने अपने मन को आतशी शीशे की तरह तैयार कर लिया तो इस सारे संसार के बन्धन को जलाने वाला भी वही परमात्मा। जो मन परमेश्वर को चाहता है, उस मन में चढ़े हुए परमेश्वर दया कर सारे संसार के बन्धन काट कर अपनी प्राप्ति करा देते हैं। जब तक मन परमेश्वर को नहीं चाहता, संसार के नामरूपों को चाहता है, तब तक भगवान् भी समग्र नामरूपों को बढ़ाते हैं। एक साथ ही अनेक कार्य भगवान् कर देते हैं।

आजकल संस्कृत व्याकरण की सबसे पहली पुस्तक लघुकौमुदी पढ़ाते हैं। उसके अन्दर पहले ही बता देते हैं कि परमेश्वर एक साथ कितने विरुद्ध काम कर देते हैं!—भगवान् शंकर त्रयोदशी के दिन सायंकाल प्रदोष के समय नृत्य करते हैं। नृत्य का उनका प्रधान स्थान है दक्षिण भारत में चिदम्बरम। वहाँ भगवान् की मूल नटराज मूर्ति है। सृष्टि के आदि में भगवान् ने लोगों को वेद दिया। वेद के प्रत्येक मन्त्र के लिये बताया हुआ है कि इस मन्त्र का अमुक देवता है। देवताओं और ऋषियों के मन में आया कि एक-एक मंत्र के देवताओं को तो बताया है परन्तु सारे वेद का देवता कौन ? इसको जानने के लिये ब्रह्माजी ने बड़ा भारी यज्ञ रचा, उसमें सारे वेदों के द्वारा आहुति दी। जब सारे वैदिक मंत्रों की आहुति दी तब उस अग्नि में से वही नटराज की सोने की मूर्ति निकली। इसीलिए गीता में कहा है—'वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः', सारे वेदों से जानने योग्य एक मैं परमात्मा ही हूँ। वेद के

एक-एक हिस्से से तो तुमको एक-एक चीज का ज्ञान होगा परन्तु सारे वेद यदि तुम इकट्ठे देखोगे तो एकमात्र परमेश्वर ही उसके द्वारा प्रतिपाद्य है। जैसे मनुष्यों का राष्ट्र होता है। आपमें से हरेक व्यक्ति अलग-अलग है, हरेक की सम्पत्ति अलग है, रिश्ते अलग हैं, सब कुछ अलग-अलग है। परन्तु जब भारत राष्ट्र की बात आयेगी तो आप सब एक हैं। यदि भारत राष्ट्र पर कोई आक्रमण करता है तो आप नहीं कह सकते कि अरे यह तो वहाँ हो रहा है, हमारे घर में क्या हो रहा है! राष्ट्र के ऊपर आक्रमण हुआ तो सबके ऊपर आक्रमण हो गया। इसी प्रकार सारे देवता एक-एक व्यक्ति की तरह हैं, और सारे देवताओं के राष्ट्रकी तरह ही एकता है परमेश्वर में। यह कार्य चूँकि त्रयोदशी के दिन हुआ था इसलिये आज भी वहाँ हर त्रयोदशी के दिन विशेष उत्सव उस नटराज की मूर्ति का होता है।

सारे विश्व प्रपंच को किस प्रकार उन्होंने वेदों में प्रकट किया है यह इस मूर्ति के विचार से स्पष्ट हो जाता है। तुम्हारे पास कागज हैं और उस पर काले अक्षर वाली लकीरे हैं। कोई सीधी है कोई चक्र है, कोई और किसी तरह की। तुम्हारे पास कागज है जिसके ऊपर काले चिह्न हैं। किन्तु वह किताब कब कही जायेगी? जब उसमें बने चिह्नों का तुम्हें पता हो कि क्या अर्थ है। अगर तुम्हारे पास ग्रीक भाषा की कोई पुस्तक है तो तुम्हारे लिये वह पुस्तक नहीं है। तुमको वह कोई ज्ञान नहीं दे सकती है। जैसे वह पुस्तक तब बनेगी जब तुम्हे उसके अक्षरों का ज्ञान होगा, इसी प्रकार भगवान् की जो मूर्ति होती है उसके प्रत्येक अंग प्रत्येक मुद्राओं का यदि अर्थ तुम्हें पता है तब तो वह भगवान् है, अन्यथा नहीं। आजकल देवी देवताओं के चित्र आदमियों की तरह के बनाते हैं। अभी हम दिल्ली में थे तो कोई गणेश जी की लेटी हुई मूर्ति लेकर आये थे। महाराष्ट्र में चले जाओ तो गणेश जी के हाथ में बन्दूक दे देते हैं, गणेश जी बन्दूक चला रहे हैं, गणेश जी साइकिल चला रहे हैं! गणेश जी क्या हैं यह तो उनको पता नहीं। वे समझते

हैं जैसे हम लोग सब आदमी हैं वैसे ही गणेश जी भी एक आदमी ही होंगे, अगर हम साइकिल पर चढ़ सकते हैं तो वे क्यों नहीं चढ़ सकते हैं ? कोई सज्जन बता रहे थे कि टेलीविजन में दिखा रहे थे कि भगवान् विष्णु टेलीफोन कर रहे थे। यह सब इसलिये होता है कि लोगों को मूर्ति का रहस्य तो पता है नहीं। मूर्ति में प्रत्येक चीज, प्रत्येक मुद्रा और प्रत्येक अंग का तात्पर्य है। उसको जब समझते हो तब तो वह भगवान् है। नटराज मूर्ति ऐसी मूर्तियों में बड़ी विलक्षण है, क्लिष्ट है क्योंकि उसमें सृष्टि स्थिति लय तिरोधान अनुग्रह सारी चीजों को दिखाया हुआ है। वह मूर्ति जिस नृत्य की मुद्रा में है उसी का वर्णन करते हुये कहा :

'नृत्तावसाने नटराजराजो ननाद ढक्कां नव पञ्च वारम्।
उद्धर्तुकामः सनकादिसिद्धानेतद् विमर्शे शिवसूत्रजालम्।।'

त्रयोदशी को प्रदोष का नृत्य भगवान् शंकर ने किया। वहाँ सनकादि सिद्ध आये हुये थे, पाणिनि और पतंजलि भी आये थे। भगवान् शंकर ने अपने डमरु को नव और पाँच बार बजाया। यह नहीं कहा कि चौदह बार बजाया! कहा कि नव बार बजाया और पाँच बार बजाया। अब उस डमरु के द्वारा सनकादि सिद्धों को ब्रह्मज्ञान हो गया। महर्षि पाणिनि को व्याकरण का ज्ञान हो गया और पतंजलि को योग का ज्ञान हो गया। काम एक ही था, उसमें से प्रत्येक ने अपने अधिकार के अनुरूप चीजों को ग्रहण कर लिया। परमेश्वर का एक कार्य अनेक प्रकार के फलों को उत्पन्न करने वाला होता है, यही उसकी अपार सामर्थ्य और अपार शक्ति है। यदि तुम चाहते हो कि तुमको संसार के नामरूप मिलते रहें तो वह अपार शक्ति के द्वारा इस संसार के अनन्त नामरूप देता रहेगा। वैज्ञानिक लोग न जानें कितनी नई चीजें निकाल लेते हैं। तो क्या वह सब वैज्ञानिक निकालते हैं ? वह नामरूपों को चाहते हैं तो परमेश्वर अपने आपको अनन्त नामरूपों में प्रकट करता जाता है। लोग समझते हैं वैज्ञानिक ने निकाला। वैज्ञानिक क्या

निकालेगा! जो चीज जहाँ छिपी रहती है उसको प्रकट करता है। इसीलिये वे लोग भी कहते हैं कि हम रिसर्च करते हैं अन्वेषण करते हैं। ठीक ऐसे ही वटवृक्ष की बात कही थी। वटवृक्ष के बीज में छिपे हुये वृक्ष को तुम प्रकट कर सकते हो, कहीं से ला नहीं सकते। इसी तरह परमात्मा की माया के अन्दर जो अनन्त चीजें हैं। उनको परमात्मा प्रकट करता जाता है। जैसे-जैसे रूपों में तुम्हें उसे ढूँढने की इच्छा है ढूँढते जाओ। यदि नाम-रूप से रहित स्वरूप खोजोगे तो वे उसे भी प्रकट कर देंगे। जब तुम्हारा अन्तःकरण नाम-रूपों से हटकर केवल उनको चाहेगा तब वे ही उस स्वरूप को प्रकट भी कर देंगे।

इतनी बड़ी सृष्टि करने वाला स्वयं ही सृष्टि प्रपंच को हटा देता है यह तो बड़ा विचित्र लगता है। क्योंकि नीति है 'विषवृक्षोपि संवर्ध्य स्वयं छेत्तुमसाम्प्रतम्।' अपने हाथ से अगर गलती से कोई जहर का पेड़ भी लग जाता है तो उसे काटने की इच्छा नहीं होती। या कोई औरत जली रोटी बना लेती है, या दाल लग जाती है, तो उसे फेंकने की इच्छा नहीं होती। हींग का छौंक लगा-लगा कर उसको खाने लायक कर देती है। अपनी बनाई चीज़ को कोई बिगाड़ना नहीं चाहता। फिर परमेश्वर ने इतनी बड़ी सृष्टि की तो मुक्ति देकर वे इसको कैसे खत्म करना चाहते हैं ? इसीलिये कहा कि यह परमेश्वर की दया की पराकाष्ठा है। स्वयं अपने द्वारा बनाये सारे सृष्टि प्रपंच को अपने अन्दर वह लीन तुम्हारे लिये कर लेता है, यह उसकी दया की पराकाष्ठा है। अन्यथा यदि विचार कर देखो तो परमेश्वर इसको क्यों लीन करे ? परन्तु करता है। जिस समय अमृत मन्थन हुआ, पहले बढ़िया-बढ़िया चीजें निकली, सबने अपनी-अपनी चीजें बाँट लीं। अन्त में हलाहल निकला जिस विष से सब जलने लगे। देवता असुर सब जलने लगे। सबने विचार किया 'यह सबको खत्म कर देगा। इसे तो भगवान् शंकर को ही दे देंवे।' जब तक बाकी सब चीजें निकल रही थीं तब तक भगवान्

शंकर की किसी को याद नहीं आई और जब हलाहल विष निकला और सब उससे जलने लगे तब उनकी याद आई। पार्वती जी ने कहा 'देखो जहर लेकर आ रहे हैं, अब तक तो आपको याद नहीं किया, अब क्यों उन पर ध्यान देना है ?' भगवान् ने कहा 'यह मेरा स्वभाव नहीं है। ये अपनी प्राणों की रक्षा चाहते हैं, इनको अभय देना मेरा काम है।' क्यों ? बड़ा आदमी किसको कहते हैं ? आजकल जिसके पास जितना ज्यादा माल हो वह उतना ही बड़ा आदमी। 'एतावान् हि प्रभोरर्थो यद् दीनपरिपालनम्।' प्रभु या बड़ा आदमी उसको कहा जाता है जो दीनों का परिपालन करे। अतः भगवान् ने कहा, 'इस समय ये कष्ट में पड़े हुए हैं अर्थात् दीन हैं, इसलिये इनकी रक्षा करनी है।'

इसी प्रकार जब हम नामरूपों के इस संसार को भोगते-भोगते बार-बार जन्म मरण के कारण इस संसार की दावाग्नि से, हलाहल विष से जलने लगते हैं तब हमारे ऊपर दया कर भगवान् अपने आपको प्रकट कर इन सब चीजों को लीन करते हैं। हलाहल विष जैसे उन्होंने पी लिया वैसे ही सारे मायाकार्य को वे अपने अन्दर लीन कर लेते हैं। हमारे लिये यह असम्भव है। यदि हमको करना पड़ता तो असम्भव था। परन्तु वे हैं अपार शक्ति से सम्पन्न। अपनी अपार शक्ति से सारा विलास फैलाते हैं और अपनी अपार शक्ति से ही हमें ज्ञान द्वारा मोक्ष भी दे देते हैं। हम चाहते कि प्रयत्न से इस संसार समुद्र को पार कर लें तो असम्भव था परन्तु वे इतने दयालु हैं कि जैसे ही हम उनके दरवाजे के सामने जाते हैं वैसे ही वे झट दरवाजा खोल कर प्रकट हो जाते हैं। एक बार हमारे पास एक ईसाई प्रचारक आये, उनके बाईबिल में लिखा हुआ है कि दरवाजा खटखटाओ भगवान् अपने आपको प्रकट कर देंगे। कहने लगे 'हमारे यहाँ तो इतना सरल काम है कि खटखटाते ही प्रकट हो जाते हैं।' हमने कहा, तुम्हारे भगवान् को पहले पता नहीं लगता कि हम उनके दरवाजे की तरफ जा रहे हैं। हमारे भगवान् तो

जैसे ही हमारे मन में आता है कि हमें उनकी प्राप्ति होवे तो वे तुरंत हमारे सामने प्रकट हो जाते हैं। यह बात वेद ने कही है 'यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम्!' मन से हमने उनको चुन लिया तो उनकी प्राप्ति हो गई। हमने कहा तुम्हारे तो मन में पहले इच्छा हो, यहाँ से चलो, वहाँ पहुँचो, फिर दरवाजा खटखटाओ! हमारे यहाँ तो यह सब कोई मुश्किल नहीं। भगवान् जानते थे कि कभी न कभी जीव हमारी तरफ आना चाहेगा। हम कहीं दूर बैठ जायेंगे तो इस बेचारे को बहुत समय लगेगा। यदि हम भी पहुँचेंगे तो भी कुछ समय लगेगा। तो कहाँ बैठ जाऊँ—'यो वेद निहितं गुहायाम्' तुम्हारे हृदयाकाश में वे बैठे हुए हैं। जहाँ तुम बैठे हो वहीं वे भी बैठे हुए हैं। इसलिये उनको कहीं दूर से आना भी नहीं है, तुम्हें भी कहीं दूर जाना नहीं है। बस बाहर जाने वाली इन्द्रियों को रोक कर मन जैसे ही उनकी इच्छा करता है वे प्रकट हो जाते हैं। उनकी जो अपार कृपा है, दया है, इससे वे प्रकट हो जाते हैं।

प्रवचन—४

संसार वृक्ष का वर्णन करते हुये भगवान् बता रहे हैं कि इसका जो मूल है, कारण है, वह ऊर्ध्व, उत्कृष्ट, श्रेष्ठ है। संसार वृक्ष इस प्रकार का है यह विचार करने से ही मनुष्य इसके मूल को जान सकता है। अगर संसार में अविचार से फँसा है तो निकलेगा विचार से ही। शास्त्रकार कहते हैं 'भूमौ स्खलितपादानां भूमिरेवावलम्बनम्।' जमीन के ऊपर हमारा पैर फिसलता है। क्या इतने मात्र से हम कह देवें कि हम जमीन का कभी प्रयोग नहीं करेंगे ? पृथ्वी के ऊपर फिसल कर गिरने वाले के लिये वापस उठने के लिये पृथ्वी ही सहारा है। जमीन पर हाथ रखकर उठेंगे, जमीन पर ही पैर होंगे। प्रश्न उठता है कि जमीन का भरोसा कैसे करें ? पैर फिसलता है कब ? जब हम प्रमादी होते हैं, असावधान होते हैं। पानी है, ध्यान नहीं

गया। केले का छिलका है, ध्यान नहीं गया। गड्ढा है, ध्यान नहीं गया। कहीं न कहीं हमारी असावधानी होगी, प्रमाद होगा, तभी हम गिरेंगे। जब हम वापस उठते हैं तो सावधान होकर उठते हैं। प्रमाद करके नहीं उठते। इसलिये अब वह जमीन हमें सहारा देगी। प्रमाद या असावधानी से जो चीज हमारे दुःख का कारण है, सावधानी से वही हमारे सुख का कारण बनती है।

इसी प्रकार संसार से हमें दुःख है। संसार से हमें दुःख क्यों है? हम संसार में व्यवहार असावधानी से करते हैं, विचारपूर्वक करते हैं नहीं। विचार रूप रोशनी भगवान् ने हमारे सामने रखी। हमारे सामने क्या, स्वयं अपने सामने ही रखी! क्योंकि वेद कहता है 'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' सृष्टि बनाकर वह जीवरूप से खुद ही इसमें प्रविष्ट हुआ है। स्मृति भी कहती है 'स्वयमेव जगद्भूत्वा प्राविशज्जीवरूपतः' संसार रूप से खुद ही बना और फिर इस संसार को चलाने के लिये जीवरूप से इसमें प्रविष्ट हुआ। ऋग्वेद में कथा आती हैः परमेश्वर ने पंचभूतों की सृष्टि की। लिंग शरीर की सृष्टि की। फिर उसके बाद अनेक प्रकार के प्राणियों की सृष्टि की। गाय बनाई, घोड़ा बनाया और उन्होंने देवताओं से उन प्रत्येक शरीरों में बैठने को कहा। देवताओं ने कहा 'ये शरीर हमारे बैठने लायक नहीं हैं।' अन्त में उन्होंने मनुष्य का शरीर बनाया। तब देवता प्रसन्न हो कर कहने लगे 'इसमें हम सब बैठ जायेंगे। यह हमारे लायक है।' मनुष्य शरीर को सर्वश्रेष्ठ मान कर देवता इसमें बैठे। मनुष्य के आगे और कोई शरीर श्रेष्ठ नहीं है। पुराणों के अन्दर तो स्पष्ट ही कहा है 'गायन्ति देवाः किल गीतकानि धन्यास्तु ते भारतभूमिभागे।' देवता लोग कहते हैं जो भारत में पैदा हुए हैं वे धन्य हैं क्योंकि वे भोग और मोक्ष जो चाहे प्राप्त कर सकते हैं। हम देवता लोग भोग तो प्राप्त कर सकते हैं परन्तु मोक्ष को प्राप्त नहीं कर सकते। यह है मनुष्य की श्रेष्ठता। 'भारतभूमिभागे' क्यों कहा ? मनुष्य शब्द का अर्थ होता

है– 'मनोरपत्यम् पुमान्' –जो मनु की संतति हो उसे मनुष्य कहते हैं, मानव कहते हैं। संतति का मतलब केवल शरीर से उत्पन्न होना नहीं है। हमारे यहाँ जैसे शरीर से उत्पत्ति मानी है उससे श्रेष्ठ ज्ञान-संतति मानी है। मनु के नियमों के अनुसार जीवन व्यतीत करने वाले चूँकि अधिकतर भारत वर्ष में होते हैं इसलिये भारत की विशेषता कही। उन नियमों को मान कर मनुष्य भोग और मोक्ष सब कुछ प्राप्त कर सकता है।

जब प्रवेश कर लिया देवताओं ने शरीर में, तब भी परमेश्वर ने देखा कि यह हिल डुल नहीं रहा है, कुछ क्रिया नहीं कर रहा है। क्या बात है? इसमें कमी क्या रह गयी? तब परमेश्वर ने विचार किया 'कथन्विदं मदृते स्यात्' जब तक मैं इसमें प्रवेश नहीं करूँगा तब तक सारी चीजें होने पर भी इसको चलाने वाला कौन होगा ? 'स एतमेव सीमानं विदार्य एतया द्वारा प्रापद्यत' तब फिर मूर्धा का विदारण कर उन्होंने प्रवेश किया। इस प्रकार श्रुति स्पष्ट कहती है कि मनुष्य शरीर के अन्दर जो जीव है, वह परमेश्वर ही है। इसमें परमेश्वर ने प्रवेश तो कर लिया परन्तु है परमेश्वर बुद्धिमान्! इसमें घुसने से पहले कहीं न कहीं निकलने का रास्ता भी जरूर इसने संकेतित कर रखा है। हम लोग देखते हैं सामान्य से सामान्य पुरुष भी यदि कूँए या बावड़ी में उतरता है तो पहले डोरी इत्यादि का इन्तजाम करके उतरता है जिससे वापस बाहर निकल आ सके। किसी अंधेरे तहखाने में जाना हो तो जरूर ऊपर रोशनी लगा कर रखता है कि उसको देख कर बाहर निकल आए। अंधेरे तहखाने के अन्दर यदि मशाल ले जायें तो उस मशाल के धुँए से आदमी का दम घुट सकता है। इसलिये मशाल को अन्दर नहीं ले जाते थे। लेकिन बाहर रख कर जाते थे जिसमें उस रोशनी को देख कर वापस आ सकें। अगर कहीं जंगल में स्काउट वगैरह को ले जाते हैं तो उनको शिक्षा देते हैं कि हरेक जगह किसी न किसी प्रकार का चिह्न बनाकर जाओ जिन चिह्नों को देखकर वापस आ सको। अथवा पहाड़ के ऊपर जाना

होता है तो डोरी इत्यादि बाँध कर जाते हैं जिसके सहारे रास्ता वापस मिल सके। सामान्य आदमी भी कहीं घुसता है तो पहले निकलने की व्यवस्था करके घुसता है, वह परब्रह्म परमात्मा जब प्रवेश करेगा इस मनुष्य शरीर के अन्दर इस संसार चक्र में घूमने के लिये, तो अवश्य कुछ न कुछ उसमें से निकलने का उपाय बनाकर ही घुसेगा।

वह उपाय क्या है? वह है विचार। अविचार से मैं संसार में मनुष्य रूप से व्यवहार करूँगा। प्रमाद के कारण भूल होगी परन्तु इसी संसार को जब मैं वापस अविचार छोड़कर विचार से देखूँगा तो इसके कारण रूप से मुझे अपना ज्ञान हो जायेगा। इस विचार की रोशनी को ही यहाँ भगवान् बता रहे हैं। आचार्य शंकर इसीलिये कहते हैं यदि विचार नहीं है तो संसार से निकलना संभव नहीं है। "वदन्तु शास्त्राणि यजन्तु देवान् कुर्वन्तु कर्माणि भजन्तु देवताः"—चाहे मनुष्य कितना ही शास्त्रों का अध्ययन कर ले; केवल अध्ययन ही नहीं दूसरों को सुना भी लेवे—"वदन्तु"। "यजन्तु देवान्" देवों का पूजन भी कर लेवे। "कुर्वन्तु कर्माणि" दान तप इत्यादि कर्म भी कर लेवे। परन्तु यदि वह संसार के स्वरूप पर विचार नहीं करेगा तो इसमें से निकलने का रास्ता नहीं मिलेगा। जब विचार करता है तो उसे पता लगता है "ऊर्ध्वमूलम्" इस संसार वृक्ष का मूल परमात्मा ही है।

संसार वृक्ष विचित्र है। प्रमाद से इसमें गिरता है और अप्रमाद से इसमें से निकलता है। इस प्रमाद का रूप क्या है? संसार से अन्दर विचार करने वाला आदमी तो कपड़े को देखता है कि उस का धागा कैसा है, बुनाई कैसी है। जो व्यक्ति अविचारवान् होता है वह कपड़े के ऊपर बनी हुई चित्रकारी देखता है। कपड़ा महँगा लाता है जो थोड़े दिनों में ही खत्म हो जाता है। पन्द्रह सोलह साल पहले हम एक बार माउन्ट आबू से दिल्ली आ रहे थे तो उसी डिब्बे में कुछ व्यापारी लोग बैठे हुये थे। उनमें कोई एक "लिबर्टी" शर्ट बनाने वाला था। दूसरों ने उससे कहा 'आपका शर्ट निकलता तो बहुत

बढ़िया है परन्तु उसका कपड़ा बिल्कुल नहीं टिकता। तीन चार महीने में बिल्कुल खराब हो जाता है।' जो लिबर्टी का मालिक था उसने कहा कि 'तीन चार महीना भी न चले तो हमें और फायदा हो। बहुत चल जाता है तीन चार महीने! ।' कहने लगा 'हमारा जो महँगा शर्ट है उसे कोई साधारण आदमी तो पहनेगा नहीं इतना पैसा देकर के।' हाथ से इशारा करके कहता था 'जिसके पास पैसा फेंकने को होता है वही हमारा शर्ट खरीदेगा। वह तो दो महीने में सोचेगा कि यह शर्ट पुरानी डिजायन की है, और नया खरीद लूँ। दूसरे लोगों के लिये बनाना हमारा प्रयोजन ही नहीं है।' तो जो ऐसे अविचारी और प्रमादी होंगे वो लोग तो देखेंगे कि उस पर नई से नई क्या डिजायन बनी हुई है। और जो अप्रमादी होगा वह देखेगा कि कपड़ा कैसा है। इसी प्रकार दिल्ली में बड़ी-बड़ी दुकानें हैं गहनों की ज़हाँ बढ़िया-बढ़िया डिजायन होती है। कई बार भूल से साधारण आदमी भी यह सोच करके कि यहाँ का गहना प्रसिद्ध है इसलिये ले आता है। चार छह महीने बाद देखते हैं कि उसका सोना उतर कर कोई और धातु निकलने लगा है! तब बेचारे घबराते हैं कि हम तो इतने महंगे में ले आये। बेचने वाले भी बहुत चतुर हैं। लिख तो रखा है उन्होंने कि हमारा माल वापस लाओगे तो हम उतने में ही वापस ले लेंगे। जब ले कर जाओ तो पहले तो पूछेंगे कि 'रसीद कहाँ है ?' आजकल बहुत से लोग रसीद नहीं रखते। यदि रसीद है तो यह हमारी दुकान से खरीदी चीज ही है यह सिद्ध करना मुश्किल। वे लोग सोचते हैं कि सौ में से दो आदमी पैसा वापस भी ले गये तो भी हमें फायदा ही रहा। जो गहना खरीदते हो उसे पहले कसौटी पर क्यों नहीं कस कर देखते? इतना गहना खरीदते हो, महँगा होता है। लोग कहते हैं 'जी आजकल यह सब कौन करता है!' यह है प्रमाद। अप्रमादी व्यक्ति किसी भी चीज की असलियत को पहले देखता है। उसके बाद उसकी डिजायन और चित्रकारी को देखता है।

ऐसे ही जो अप्रमादी होता है वह सबसे पहले खोजता है इस संसार का मूल कारण क्या, इसमें मूल द्रव्य है क्या ? क्या चीज है जो इस सारे संसार के रूप में हमें दीख रही है ? इसकी परीक्षा करता है। उस परीक्षा को ही यहाँ भगवान् ने बतलाया "ऊर्ध्वमूलम् अधःशाखम्"। इसकी शाखायें आगे-आगे बढ़ती जातीं हैं। सबसे पहले परब्रह्म परमात्मा से अव्यक्त प्रकट होता है। व्यक्त का मतलब है जो स्पष्ट हो, अव्यक्त जो अस्पष्ट हो। जिस प्रकार जब कोई चित्रकार चित्र बनाता है तो पहले एक पेंसिल लेकर उसका खाका तैयार कर लेता है। कहाँ मुझे मुँह बनाना है कहाँ हाथ बनाना है—यह सब वह पहले लेखनी के द्वारा खाके में तैयार कर लेता है, आउटलाइन बना लेता है जिसे देख कर साधारण आदमी को पता नहीं लगेगा कि कैसे शक्ल निकल आयेगी। इसी प्रकार जब परमात्मा सृष्टि को प्रारम्भ करते हैं तो पहले अव्यक्त रूप रहता है, खाका बन जाता है। जब खाका बन जाता है तब उसके अन्दर रंग भरते हैं। अव्यक्त से महत्। महत् में रंग तो आ गया, लेकिन अभी तक उसमें जो चेहरे की विशेषतायें हैं वे नहीं दीखीं। अव्यक्त वह स्थिति है जिसमें सारी ही कार्य-कारण-शक्ति विद्यमान है, समाहित है। महत् तत्त्व के अन्दर व्यापक जो बुद्धि है वह हिरण्यगर्भ है। सबके अन्दर रहने वाली जो बुद्धि है जिसे बुद्धिघन कहते हैं वह महत् में बन गयी। लेकिन व्यक्ति अभी तक नहीं उत्पन्न हुये। रंग तो आ गया लेकिन अभी तक चेहरा कैसा बनेगा यह पता नहीं क्योंकि आगे उसके अन्दर जो अलगाव लाने के लिये विशेष प्रकार के शेड्स दिये जाते हैं, विशेष प्रकार से किसी रंग को हलका और गहरा किया जाता है, वह अभी नहीं हुआ। महत् के बाद अहंकार। जब अहंकार उत्पन्न हो गया तो चीजें सर्वथा अलग-अलग हो गई। अर्थात् जीवों की अलग-अलग बुद्धियाँ आ गईं, उनके साथ सत्त्व रज और तमोगुण आ गये। उसके अन्दर पंचमहाभूतों के रजोगुण के अंश से कर्म आ जायेगा, सत्त्वगुण से ज्ञान आ जायेगा और तमोगुण

से बाहर का जगत् आ जायेगा। यह हुई सृष्टि-प्रक्रिया। जिन चिह्नों को बना कर हम घुसे हैं वापस निकलने के लिये उन्हीं चिह्नों को देखना पड़ेगा। महर्षि याज्ञवल्क्य वृद्धावस्था में घर छोड़ कर संन्यास लेने को तैयार हुये। उनकी दो पत्नियाँ थी मैत्रेयी और कात्यायनी। उन दोनों को बुलाकर उन्होंने कहा, 'तुम दोनों को मैं अपनी सम्पत्ति बाँट कर जाना चाहता हूँ जिसमें आगे तुम लोगों में कोई मतभेद न होवे। अब मैं संन्यास लेना चाहता हूँ।' कात्यायनी तो जरा सीधी सादी थी। उसने कहा 'जैसी आपकी इच्छा।' मैत्रेयी ने पूछा 'क्या आप यहाँ से अपने लिये कुछ सम्पत्ति लेकर भी जाओग?' उन्होंने कहा 'नहीं। जो कुछ है तुम लोगों को बाँट कर के जाऊँगा।' मैत्रेयी बोली 'मैं यह नहीं मानती। आपके पास जरूर कोई बहुत बड़ी सम्पत्ति है जिसको आप लेकर जा रहे हैं और कोई छोटी सम्पत्ति हमें दे रहे हैं! 'अनन्तवित्तो हि भवान् अन्तवत् दीयते कथम्?' आप अनन्तवित्त, अनन्त सम्पत्ति या अनन्त धन के मालिक हैं। जिस ज्ञान को आप ले कर जा रहे हैं वह तो अनन्त है। हमें ये थोड़े से दस बीस लाख रुपये दे कर जा रहे हो यह तो कोई न्याय नहीं हुआ। 'तदेव वसु दीयताम्।' जिस धन को आप लेकर जा रहे हो वह ज्ञानरूप धन मुझे दो। अन्य सब लेकर मुझे संतोष नहीं होगा। क्योंकि क्या यह सब लेकर मुझे मोक्ष की प्राप्ति हो जायेगी ? क्या संसारबन्धन से मैं निकल जाऊँगी ?' याज्ञवल्क्य को कहना पड़ा 'सारे संसार की सम्पत्ति भी तुम्हे मिल जाये तो भी मोक्ष नहीं हो सकता।' उसने कहा 'तो फिर मुझे यह देकर क्यों जाते हो?' याज्ञवल्क्य बड़े प्रसन्न हुए और बड़े प्रेम से समझाने लगे। उसे ढूँढ़ने का तरीका बताने का पहला ही साधन उन्होंने बतलाया कि परमात्मा का स्वरूप वह है जो हमें सबसे अधिक प्रिय होवे।

जो चीज सबसे अधिक प्रिय होवे वही परमात्मा है। सबसे ज्यादा प्रिय क्या है—उसे ही ढूँढ़ो। साधारणतया आदमी समझता है धनादि प्रिय है, पर

जैसे ही अपने पुत्र पर कोई आपत्ति आती है तो आदमी दो, चार, दस लाख रुपया खर्च करके भी उसका इलाज कराता है। इसलिये ऐसा करता है क्योंकि जानता है कि वह मुझे ज़्यादा प्रिय है। आगे पुत्रादि की अपेक्षा अपना शरीर ज्यादा प्रिय है। पत्नी प्रिय होती है परन्तु रोज जला भात खाने को दे देवे और साग के अन्दर खूब नमक डाल देवे तो कितने दिन तक प्रिय रहेगी ? चाहे जितनी प्रियता पुत्र में हो, अगर पुत्र रोज अपमान करने लगे तो कब तक सहन होगा? उसकी अपेक्षा अपना शरीर अधिक प्रिय है। बाह्य सम्पत्ति की अपेक्षा पुत्र अधिक प्रिय है। पुत्रादि की भी अपेक्षा अपना शरीर प्रिय है। पर कई बार ऐसा देखा जाता है कि अपना मन दुःखी होने पर मनुष्य शरीर छोड़ने को भी तैयार हो जाता है। 'शरीर मर जाये पर मुझे तो शांति मिले।' मिलती है या नहीं यह विषय दूसरा है। प्रयत्न तो वह करता ही है। दिल्ली में कुतुबमीनार पर चढ़कर कूद जाते थे। तो मन के सुख के लिये मनुष्य शरीर को भी छोड़ देता है। परन्तु मन भी कई बार अप्रिय हो जाता है। तुम नहीं चाहते किसी चिन्ता को करना; दो दिन हो गये नींद नहीं आ रही है। मन को कहते हो 'अरे भूल जा, नींद तो लेने दे।' लेकिन मन जिद्द कर लेता है 'मैं नहीं छोड़ूँगा।' पुराने आदमी तो भाँग घोट कर पी लेते थे। आधुनिक लोग बोतल पी लेते हैं। और जरा ज्यादा तेज हुये तो डाक्टरों से ट्रैंक्वीलाइजर ले लेते हैं। हर हाल में मन को चुप करके "मैं सुखी हो जाऊँ," ऐसा चाहते हैं। जिसके लिये मन को भी खत्म करना चाहता है और गहरी नींद में जाना चाहता है वह "मैं" सर्वाधिक प्रिय है। उससे आगे और कोई प्रिय नहीं। इसलिये मैत्रेयी को उपदेश देते हुये वे कहते हैं कि दृष्टि इस आत्मा क़ी तरफ, शरीर मन से जो परे है उसकी तरफ ले जा।

इस मैं के स्वरूप को समझ कर उसके परमात्म-स्वरूप को जान कर हमारे जो व्यवहार होंगे उनका ढंग बदल जायेगा। अभी हमारे सारे व्यवहार

गड़बड़ क्यों होते हैं ? हम इस बात का प्रमाद करते हैं कि मैं सचमुच में कौन हूँ। इस प्रमाद के कारण हमारे जितने कर्तव्य कर्म हैं उनमें हम प्रमादी हो जाते हैं। तुरन्त क्षणिक लाभ देख लेते हैं। हमारा हाल ऐसा है—हमको खाना अच्छा लगता है तले हुये पकोड़े। डाक्टर कहता है 'तुम्हारी किडनी खराब है तुम सर्वथा तला हुआ मत खाओ।' आदमी सोचता भी है और जानता भी है। दूसरा कोई हो तो उसे उपदेश भी दे देता है। राजस्थानी में कहावत है कि बहुत से व्यापारी माल भाव के भाव बेच देते हैं। सौ रुपये में लिया और सौ रुपये में ही बेच दिया। उनका कहना है कि व्यापार का रोटेशन चलना चाहिये। इसी प्रकार बहुत बार हम लोग जो उपदेश देते हैं वह भाव के भाव है। किसी के घर मृत्यु हो गई तो हम जाकर उसको समझाते हैं 'अरे भाई, परमेश्वर की इच्छा है। मरना जीना तो अपने हाथ में नहीं है। इसके अन्दर तो संतोष करना चाहिये। उसके आगे किसी का जोर नहीं चलता है।' उपदेश दे देते हैं। कुछ दिन बाद हमारे यहाँ मृत्यु हो जाती है। हमारे घर आकर वह उपदेश सुना जाता है। वही बातें जो हमसे सुनी थी उन्हें हमें ही सुना देता है। जीवन में इस प्रकार की चीज लाभ नहीं कर सकती है। जब तक जीवन परिवर्तित न हो तब तक कोई लाभ नहीं। नेता कहते हैं 'देखो भाई, देश है तो हम सब हैं। इस लिये देश के हित के लिये हमेशा कार्य करना चाहिये।' अब कभी प्रसंग आया कि अपनी जमीन में चार पेड़ हैं, इनको काट लें तो पैसे बन जायेंगे। चलो चार पेड़ों में क्या फर्क पड़ता है! यदि उस समय प्रमाद न कर विचार करो कि भारत वर्ष में छियासी करोड़ आदमी हैं। चार पेड़ का मतलब है चार को छियासी करोड़ से गुणा कर क्या हालत बनेगी। यह है अप्रमादी रहना। जैसे किडनी का रोगी कहता है चार पकौड़े खालूँ तो इसमें क्या नुकसान होना है वैसे ही हम सोचते हैं चार पेड़ काट लो इसमें क्या नुकसान होना है। अन्त में किडनी काम न करने की स्थिति में जा पहुँचती है और डाक्टर कहता है कि अब

कोई उपाय नहीं है।

सब जानते हैं कि परमेश्वर ने मनुष्य को बुद्धितत्त्व ऐसा दिया है कि बहुत कम बातें ऐसी होती हैं जो वह जानता नहीं है। कई बार लोग हमसे कहते हैं कि महाराज ! लोगों को धर्म का ज्ञान कराना चाहिये। हम कहते हैं कि धर्म का ज्ञान तो बड़ा सीधा है। हमारे यहाँ धर्म कोई बड़ी कठिन बात नहीं बताई गई है। ''सत्यं वद'' सत्य बोलो। किसी प्राणी की हिंसा न करो। किसी प्राणी का धन न लो। यह किसको पता नहीं है ? कई बार लोग कहते हैं, 'महाराज आज बहुत से लोग मानते नहीं कि दूसरों के धन को लेना बुरा है।' हम कहते हैं 'तो हम चार दिन में बतला देंगे।' उनके नौकर से हम कहते हैं 'बाजार से बीस रुपये की चीज का चालीस रुपये का बिल बनाकर लाया करो और जब वे पूछें तो कहना कि 'आप कहते हैं कि दूसरों का धन लेने में कोई खराबी नहीं है इसलिये बीस के चालीस ले रहा हूँ। मेरी पीठ थपथपाइये, मैं आपके चरण-चिह्नों पर चल रहा हूँ।'' हरेक को पता है कि यह गलत काम है। इसी प्रकार आजकल जो लोग यह कहते हैं कि सत्य बोलने से काम नहीं चलता उनके लड़कों को सिखा दो कि झूठ बोला करो अपने बाप से, तो तुरन्त डाँटते हैं! इसका मतलब आपको पता है कि झूठ बोलना बुरी चीज है। यदि आप झूठ बोलने को अच्छा मानते तो पीठ थपथपाते। जानते तो हैं कि बुरा है पर सोचते हैं कि 'मैं कर लूँ दूसरा न करे'। अब इस प्रकार प्रमाद-रहित होकर विचार करना है कि मेरा असली रूप न बाह्य धन है न अन्य कुछ। यह सब चला भी गया तो मेरा कुछ भी नहीं बिगड़ना। जैसे मैत्रेयी ने कहा कि 'धन नहीं होगा तो क्या होगा? दाल रोटी मिलने में कुछ मुश्किल हो जायेगी, इसके सिवाय और क्या होगा ?' इसी तरह धन से लेकर मन पर्यन्त विचार करो। इनकी हानि से मेरी सच्ची हानि नहीं होनी है। परन्तु जो मेरा स्वरूप है—यदि वह निकल गया तब मेरी सच्ची हानि होगी। यह बात मैत्रेयी समझ रही

थी। इस विचार की रोशनी को हमेशा जगाये रखना है। जब भी विचार करो तब यह मत सोचो 'इससे मेरे शरीर को क्या फायदा होगा, मेरे घर वालों को क्या फायदा होगा, इससे मेरी सम्पत्ति कितनी बढ़ेगी, इससे मेरे को कितना मान-अपमान मिलेगा?' यह विचार मत करो। मेरा जो असली स्वरूप है, मेरा जो आत्मरूप है उसकी इससे हानि है या नहीं ? अप्रमादी होकर जब इस रास्ते पर चलता है तब अखण्ड स्वरूप की रोशनी में पहुँच जाता है। आचार्य शंकर कहते हैं–

'लब्ध्वा कथंचिद् नरजन्म दुर्लभम्
तत्रापि पुंस्त्वं श्रुतिपारदर्शनम्।
यः स्वात्ममुक्त्यै न यतेत मूढधीः
स ह्यात्महा स्वं विनिहन्त्यसद्ग्रहात्।।'

न जाने कितने पुण्य के बदल से यह परिस्थिति आई है कि हमको मनुष्य का जन्म मिला। चारों तरफ देखो प्राणियों को–मक्खी मच्छर से लेकर के बड़े-बड़े हाथी और तिमितिमिंगल, ह्वेल और शार्क सभी को। क्या उनमें कभी भी विचार की सामर्थ्य है ? उनका सारा काल खाने-पीने टहलने में निकल जाता है।

मनुष्य के अन्दर एक विशेषता है जिसकी तरफ से दृष्टि कभी नहीं हटनी चाहिये : हम हर चीज का प्रतिकार करते हैं, विचार कर, हर चीज को देख कर बुद्धिमत्तापूर्वक उसे अपने अनुकूल बनाने का प्रयास करते हैं। अनादि काल से पशु-पक्षी हैं, किसी ने कपड़ा निकाला ? किसी ने भोजन पकाना सीखा? कहने को तो लोग कह देते हैं कि मनुष्य एक तरह का पशु है। लेकिन किस तरह से पशु है यह उनसे पूछो। मनुष्य हर चीज पर विचार कर सारी व्यवस्था बुद्धि के आधार पर करता है। ऐसा कोई दूसरा प्राणी नहीं है। वे तो जैसा अनादि काल से कर रहे हैं किये जा रहे हैं। अगर गाय घास खा रही है तो हजारों सालों से खा रही है। संसार के पदार्थों में

परिवर्तन की योग्यता—बुद्धिपूर्वक सोचकर, कार्य-कारण को सोचकर इसमें बदलाव लाना केवल मनुष्य में ही सम्भव है। इसलिये कहा—'तत्रापि पुंस्त्वम् ।' अर्थात् मनुष्य में पुरुषार्थ की योग्यता है। हम केवल मनुष्य और पुरुष ही नहीं, हम ऐसी जगह पैदा हो गये हैं जहाँ वेद का ज्ञान मिलना सम्भव है। इतना सब होने के बाद भी यदि हम आत्मा की मुक्ति के लिए, संसार-बंधन से छूटने के लिये, परमात्म तत्त्व को प्राप्त करने के लिये प्रयत्न नहीं करते हैं तो फिर यह मानना पड़ेगा कि हमारी बुद्धि मारी गयी है और हम मूढ हैं।

प्रायः लोगं पूछते हैं कि संसार के अन्दर और भारत के अन्दर भी इतना नैतिक पतन आ रहा है, इसका सुधार कब होगा? सीधा ज़वाब यह है कि मनुष्य जब यह समझेगा कि हमारे जन्म का उद्देश्य क्या है तभी सुधार होगा। जब तक हम यह समझेंगे कि हम पशु हैं तब तक सुधार होना कठिन है। हमें शिक्षा ही गलत दी जाती है। किसी डारविन ने कह दिया कि बन्दरों की पूँछ घिस गयी तो आदमी बन गया! अर्थात् हम लोग पशु हैं। आजकल कम्प्यूटर वगैरह निकल आये हैं तो लोग कहते हैं कि ब्रेन क्या है, एक बड़ा काम्प्लीकेटेड कम्प्यूटर है, और क्या! लेकिन जो चीज हम भूल जाते हैं वह है कि ये सब चीजें साधन हैं। जिसके लिये ये सब हैं वह आत्मा है। उसका हम क्या कर रहे हैं ? अतः अपने यहाँ कहते हैं कि बिना आत्मतत्त्व के सब चीजें अधूरी हैं, कहीं भी किसी चीज में पूर्णता नहीं आती।

जो असत् चीजें हैं वे स्थिर रहने वाली नहीं हैं। उनको पकड़कर स्थिर रहने वाले हम अपना नुकसान कर रहे हैं। स्थिर रहने वाला हमारा आत्मा रोज हमारे साथ गहरी नींद में जाता है। न वहाँ हमारी सम्पत्ति जाती है न हमारा शरीर जाता है न मंन जाता है। रोज हमसे ये चीजें छूटती हैं लेकिन जैसे ही जगते हैं वैसे ही सुषुप्ति का विचार न कर इन असद् चीजों का जबर्दस्ती ग्रहण करने में लग जाते हैं। इस प्रयत्न में जो असली चीज है उसे भूल जाते हैं। चाहे नैतिक मूल्य हो या देश की उन्नति हो, यह सब

तब तक नहीं हो सकता है जब तक जीवन का लक्ष्य निर्धारित न हो जाये कि हमको कहाँ पहुँचना है।

इसीलिये भगवान् ने कहा 'ऊर्ध्वमूलम्' हमें शाखाओं में उलझना नहीं है वरन् जो संसारवृक्षका मूल है, जो ऊर्ध्व, उत्कृष्ट, श्रेष्ठ परब्रह्म है, उसकी प्राप्ति करनी है। इसका मुख्य तरीका विचार बताया।

प्रवचन—५

संसार वृक्ष का वर्णन करते हुये भगवान् कहते हैं कि इस संसार वृक्ष का ऊर्ध्व तो परमात्मा है। माया शक्ति से युक्त होकर वही इसका मूल बन जाता है। इसकी शाखायें प्रशाखायें नीचे निकलती चली जाती हैं। परमेश्वर से अव्यक्त, अव्यक्त से महत्, महत् से अहंकार, अहंकार से तन्मात्रायें, उनसे पंचमहाभूत, इस प्रकार यह विस्तार को प्राप्त करता है। नीचे जो शाखायें निकलती हैं उन में विकार बढ़ता जाता है, दोषवृद्धि होती जाती है। पाश्चात्य देशों में वर्तमान काल में विचारधारा है कि संसार जैसे-जैसे शाखा प्रशाखा में विभक्त होता है वैसे-वैसे उन्नति होती है। उनका सारा सिद्धान्त जितनी चीज विभक्त हो, जितना चीजों का विभाजन हो उतनी उन्नति देखने का है। उससे ठीक विपरीत सनातन धर्म की विचारधारा है जो कहती है जितनी शाखायें नीचे की ओर निकलती हैं उतनी ही अवनति है। नीचे की ओर जाना यही स्वाभाविक प्रवृत्ति है। अतः उनका सिद्धान्त है विकार उन्नति है। हम लोगों का सिद्धांत है विकार अवनति है। अतः जब वे लोगों को शांत बैठे देखते हैं तो कहते हैं कि इनमें प्रगतिशीलता नहीं है, अभी ये लोग उन्नति की ओर नहीं जा रहे हैं। उनकी छाया जब अपने यहाँ पड़ती है, तब यहाँ भी वह विचारधारा आ जाती है। आज से पहले शांति इसलिये थी कि लोग अपने अधिकारों के प्रति जागृत नहीं थे।

अशांति आ रही है अर्थात् जागृत हो रहे हैं, जागरूकता आ रही है, बड़ी अच्छी बात हो रही है, उन्नति हो रही है। हम लोग इससे विपरीत मानते हैं। हम लोगों का कहना है, मनुष्य की उन्नति शांति, संतोष और एकता में है; अशांति, असन्तोष, अनेकता और विभक्त होने में नहीं है। अतः जब मनुष्य शांति से अशांति की ओर जाता है तो भारतीय परम्परा में वह उन्नति नहीं कर रहा है। उनके सिद्धान्त की सबसे बड़ी कमजोरी है कि वह अपने आपसे ही कट जाता है, जैसे कोई कहे 'मेरे मुँह में जीभ नहीं है' तो यह कहने वाले की बात कटी हुई है क्योंकि अगर जीभ नहीं है तो वह बोलता कैसे? उनसे कहें कि यदि अशांति और असंतोष वस्तुतः अच्छा है तो इस समय जो तुम शांतिपूर्वक बोल रहे हो वह क्या निकृष्ट दशा में हो? तुम्हारी इस समय की कही हुई बात प्रामाणिक नहीं है? जैसे कोई व्यक्ति नशे में कोई बात कह दे, बाद में जब पता लगता है, कहता है 'जी मैंने तो उस समय नशा ले लिया था इसलिये ऐसी बात कह दी।' तो मान लिया जाता है कि इसका वह तात्पर्य नहीं था इसलिये इसकी यह बात प्रामाणिक नहीं थी। जितनी भी राज्य व्यवस्थायें हैं, जितनी भी सामाजिक व्यवस्थायें हैं वे शांति को ही श्रेष्ठ मान कर प्रवृत्त होती हैं, शांति ही लाने का प्रयत्न करती हैं। इससे ही सिद्ध होता है कि शांति स्वाभाविक है, अशांति अस्वाभाविक है, विकार है। इसी तरह चार आदमियों को आप विभक्त होते हुये देखते हैं, एक दूसरे से लड़ते हुये देखते हैं, तो आप तुरन्त पूछते हैं, 'आप लोग क्यों लड़ रहे हैं ?' यदि चार आदमी शांति से बैठे हुये हैं तो आप कभी नहीं पूछते कि 'आप लोग आपस में प्रेमपूर्वक क्यों रहते हो, शांति से क्यों रहते हो ?' अतः अशांति को अस्वाभाविक या विकार होने को हमेशा किसी न किसी कारण के द्वारा होने वाली चीज मानते हैं, स्वाभाविक तो एकता को ही स्वीकार करते हैं। इसलिये भगवान् ने यह जो शाखा प्रशाखाओं में बाँटना है उसे 'अधः' कहा।

यह वृक्ष माया का कार्य होने से अस्थिर है, अतः इसको कहा अश्वत्थ। स्थिर न रहने पर भी सृष्टि-प्रलय के प्रवाह में एक जैसा चलता रहता है अतः इसको अव्यय कहा। इस वृक्ष के पत्ते क्या हैं ? तो कहा–'छन्दांसि यस्य पर्णानि' इस संसार वृक्ष के पत्ते वेद हैं। छन्द अर्थात् वेद। पत्ते वृक्ष का क्या करते हैं ? वृक्ष का परिपालन करने वाली चीज पत्ते ही हैं। वनस्पतिशास्त्र हमको बतलाता है पत्ते सूर्य की रोशनी अपने अन्दर लेकर सारी शक्ति को अपने अन्दर संगृहीत करते हैं। इसलिये यदि किसी वृक्ष के पत्तों के ऊपर सूर्य की रोशनी नहीं मिलती तो धीरे-धीरे पत्ते पीले होकर सूख जाते हैं। कई स्थानों में जब वृक्षों को देखोगे तो वृक्षों के किसी तरफ के पत्ते बहुत हरे होते हैं किसी तरफ के कम होते हैं। ध्यान देने से लगेगा कि जिस तरफ धूप ज्यादा पड़ती है उस तरफ के पत्ते अधिक हरे होते हैं। जिधर कम धूप पड़ती है उधर के पत्ते कम हरे होते हैं। सूर्य की रोशनी को लेने वाला वह हरा पदार्थ पत्तों में क्लोरोफिल होता है। किसी वृक्ष के पत्ते तोड़ते जाओ फिर उसको चाहे जितना खाद और पानी दो, वृक्ष सूख जायेगा। हमारे दिल्ली आश्रम में तुलसी का पौधा है। लोग बड़ी श्रद्धा-भक्ति से आते हैं, तुलसी को जल भी चढ़ाते हैं, दूध भी चढ़ाते हैं, खाद पानी की कमी नहीं है। परन्तु इतने लोग आते हैं और सब चार-चार, तीन-तीन पत्ते भी तोड़कर ले जायें, तो थोड़े ही दिन में वह तुलसी का पौधा सूख जाता है। जितना वृक्षों के पत्तों को तोड़ोगे वृक्ष उतना ही कमजोर हो जायेगा क्योंकि पत्तों द्वारा ही उसकी पुष्टि होती है। यहाँ भगवान् बता रहे हैं कि संसार वृक्ष को पुष्ट करने वाला कौन है ? वेद है। वेद ने हमें सारे मार्ग बताये जिससे समाज, परिवार और व्यक्ति अपने आपको उन्नत कर सके। अतः जितना वेद का ज्ञान हमसे दूर होता चला जाता है, उतना ही हमें यह पता नहीं लगता कि कौन सा कार्य हमारा पोषण करने वाला है। खाद और पानी की जरूरत अवश्य है। ठीक इसी प्रकार संसार के पदार्थों का विचार करना,

उनके बारे में अनुमान इत्यादि करना यह जरूरी तो है, परन्तु यह तो पृथ्वी पर होने वाली चीज है। खाद और पानी जो तुम वृक्ष में दे रहे हो वह खाद और पानी पृथ्वी मंडल की ही चीज है। वृक्ष की बाकी सब प्राणियों से जो विशेषता है वह है कि पृथ्वी मंडल में जो चीज नहीं है उन सूर्य-रश्मियों का संग्रह कर पाना। वृक्षों के पत्तों से हमें नई चीज की निरन्तर उपलब्धि होती है। सूर्य से आने वाले प्रकाश को संग्रहीत कर नई शक्ति मिलती चली जाती है। इसी प्रकार जब हम प्रत्यक्ष और अनुमान के हिसाब से सोचते हैं, तो जो हमारा इहलोक का ज्ञान है, वही हमको मिलता है। नये ज्ञान की उपलब्धि नहीं होती। इसलिये महाराजा मनु ने कहा है कि प्रत्यक्ष और अनुमान से जो अर्थ समझा नहीं जा सकता उसे समझाता है इसी से वेद की वेदता है। वेद का मतलब होता है ज्ञान। फिर वेद को ही वेद क्यों कहते हैं, जितने भी ज्ञान हैं वे सब वेद ही तो हुये ? वेद जिस बात को कहता है उसको अपनी बुद्धि से हम कभी नहीं निकाल सकते हैं यही उस वेद की वेदता है। इस वेद का यही महत्त्व रहा है।

सृष्टि के आदिकाल से आज पर्यन्त केवल सनातन धर्म का प्रवाह अक्षुण्ण रहा है। जो लोग सृष्टि के आदिकाल से न भी मानते हैं वे भी अब तक की उपलब्ध पुस्तकों में सबसे प्राचीन वेद हैं यह तो अब स्वीकार करते हैं। तब से लेकर आजतक की सनातन धर्म की धारा अक्षुण्ण है। इस बीच अनेक मत-मतान्तर आये, रोम के मत मतान्तर आये, मिस्र के आये, बेबिलोनिया के आये; अनेक जगह की संस्कृतियाँ आईं, बढ़ीं और खत्म हो गईं। हमारी परम्परा आजतक अक्षुण्ण है। कारण क्या है ? जरा सोचने की बात है। क्या मिस्र के सारे आदमी मर गये? क्या मिस्र की जमीन खत्म हो गई? क्या नील नदी नहीं बहती ? वही नदी बहती है, वही जमीन है, वही लोग हैं। फिर क्यों कहा जाता है कि मिस्र की संस्कृति या मिस्र समाप्त हो गया है? मिस्र की जो आदिम संस्कृति थी, आज मिस्र का व्यक्ति

उसके साथ अपने को सम्बद्ध या अनुप्राणित नहीं मानता। वह यह नहीं कहता कि फरोबारई इत्यादि राजा ने जो बातें कही थी उसके अनुसार हम अपने जीवन को ढालने का प्रयत्न करें। उन्होंने जो बातें कही थीं वे ठीक हैं—यह नहीं मानता है। उनसे भिन्न विचारधाराओं को उसने ग्रहण कर लिया है। यही हालत ग्रीस की है। ग्रीस का व्यक्ति अपने को सौक्रेटीज, प्लेटो और एरिस्टाटल के अनुसार ढालने का प्रयत्न नहीं करता। यही हालत रोम की है और यही बेबीलोनिया की है। भारत वर्ष में आज भी हम लोग यह मानते हैं कि वेदों में जो प्रतिपादित किया गया है उस आदर्श को हम अपने जीवन में लायें। वेदों के जो ऋषि महर्षि थे उनके चरण-चिह्नों पर हम चलें। चल पायें या न चल पायें यह बात दूसरी है। लेकिन उस सम्बन्ध को हम विभक्त नहीं करते। इमलिये अनादि काल से लेकर आज तक हम जीवित हैं।

जिस समय पाकिस्तान बना था उस समय सम्पूर्णानन्द जी ने एक विस्तृत लेख लिखा था, उस समय वे शिक्षा-मंत्री थे उत्तर प्रदेश के। उन्होंने लिखा था कि पाकिस्तान का विरोध हम लोग किस नाते करते हैं। भारत वर्ष में पहले भी अनेक राज्य रहे हैं, दो राज्य बन जायें, चार राज्य बन जायें, इसमें तो कोई फर्क पड़ता नहीं। पहले भी अनेक राज्य थे, परन्तु वे राज्य अपनी परम्परा के साथ सम्बद्ध होते थे। आज जब पाकिस्तान बन रहा है तो वह इस प्राचीन परम्परा से सम्बन्ध तोड़कर अपनी स्वतंत्रता मान रहा है। अगर वर्तमान में पाकिस्तान की इतिहास की पुस्तकों को मंगा कर देखेंगे तो आपको मालूम होगा कि उनका इतिहास प्रारम्भ ही ग्यारह सौ साल पूर्व होता है! उसके पहले के इतिहास से उनका कोई सम्बन्ध नहीं है। सिन्ध नदी वहीं बह रही है, देश वही है, जमीन वही है और लोग भी वही हैं, कोई नये लोग नहीं आ गये हैं। परन्तु धारा टूट गयी है, प्राचीन स्रोत से अपने को असम्बद्ध पाते हैं इसलिये कहना पड़ेगा कि वहाँ अब

भारतीयता नहीं रह गई। भारतवर्ष के अन्दर चूँकि वेद की तब से लेकर के आज तक अविच्छिन्न धारा बनी हुई है इसीलिये हम कह सकते हैं भारत की संस्कृति, भारत देश वही है जो वैदिक काल में था। तब से लेकर अब तक अनेक परिवर्तन होते चले गये। बाह्य रूपों में अनेक परिवर्तन हुये। परन्तु वेदों के द्वारा अपने जीवन निर्माण की पद्धति को ढूँढना नहीं गया।

जब जब इसके बारे में भिन्न विचार-धारायें, वेदविरोधी विचारधारायें आई, तब-तब उनका विरोध करना आवश्यक हुआ। दक्षिण भारत में किसी काल में जैन समुदाय का जोर बहुत बढ़ गया था। उन्होंने अपने आपको सर्वथा वेदों से अलग कर मानना शुरू किया। जैसे उत्तर भारत में बौद्धों का जोर बढ़ा वैसे ही दक्षिण भारत में जैनों का बहुत प्रभाव बढ़ गया था। यहाँ बौद्धों ने भारत की परम्परा को छोड़ कर विभिन्न परम्पराओं से सम्बन्ध कायम करना प्रारम्भ किया। जिस समय सिन्ध के ऊपर आक्रमण हुये थे उस समय के अरब इतिहासकारों के इतिहासों को देखने से पता लगता है कि किस प्रकार बौद्धों ने उनको सब प्रकार से मान कर सहायता दी कि ये भी वेदविरोधी हैं और हम भी वेदविरोधी, तो हम दोनों की मित्रता हो जायेगी। अन्त में सारे बौद्ध विहारों को उन लोगों ने वैसे ही नष्ट किया जैसे हिन्दू मंदिरों को। वैदिक धाराओं से उच्छिन्न होने के कारण उनकी वृत्ति उधर चली गयी। ऐसा ही बहुत कुछ जैन विचारधारा में दक्षिण भारत में हो रहा था। इसलिये उसका विरोध करने अनेक संत आये। दक्षिण भारत में एक संत हुये हैं अप्पर। अप्पर का पालन पोषण उसकी बहन तिलकावती ने किया। उसका पति फौजी था, वह किसी युद्ध में मारा गया। अप्पर की बहन जब विधवा हो गई तो वह सती होने के लिये तैयार हुई। अप्पर अभी छोटे थे, रोने लगे 'माता-पिता भी नहीं हैं, तुम भी सती हो जाओगी तो मेरी रक्षा कौन करेगा?' उसके दुःख और रोने से पिघल कर तिलकावती ने सती होना रोक दिया, सती नहीं हुई। अप्पर के हृदय में हमेशा प्रश्न

उठता रहता था 'हम लोग वैदिक परम्परा को मानते हैं, हम लोग शिवभक्त हैं। चारों तरफ इतना जैन धर्म का विकास हो रहा है। जैन धर्म में ऐसी क्या विशेषता है कि यह फैल रहा है?' उन्होंने उस समय के वैदिक विद्वानों से जाकर प्रश्न पूछा 'जैन धर्म की क्या विशेषता है ? यह क्यों इतने विस्तार को प्राप्त हो रहा है?' उन्होंने खुद ही लिखा है 'जब मैंने अपने धर्म के लोगों से जाकर यह प्रश्न किया तो बजाय सम्यक् उत्तर देने के उन्होंने कहा कि 'तुझे अच्छा लगता हो तो तू भी उसी तालाब में घुस जा?'' कविता के ढंग से लिखा है उन्होंने, कविता ही लिखते थे। सत्य का अन्वेषक जब तक सत्य नहीं मिलता तब तक शांत नहीं रह सकता। जैनों का बहुत बड़ा विश्वविद्यालय पटना में था। उस समय उसे पाटलीपुत्र कहते थे। दक्षिण से चलकर वहाँ वे पहुँचे। करीब पच्चीस साल की उम्र थी। उनकी बहन ने बहुत मना किया पर उन्होंने कहा, ''नहीं, केवल घर का काम देखने से मुझे शांति नहीं मिलेगी। मैं तो सत्य का अन्वेषक हूँ, सत्य का साक्षात्कार करना चाहता हूँ'' । अतः बहन की बात नहीं मानकर वहाँ गये। वहाँ जाकर वे अध्ययन करने लगे। बुद्धि से कुशल थे। धीरे-धीरे जैन शास्त्रों का वहाँ उन्होंने बहुत विस्तृत अध्ययन किया। वहाँ के लोगों ने भी उनको बहुत श्रेष्ठ माना। बीस साल तक वे वहाँ रहे। उस समय जैन शास्त्रों का सबसे गहन अध्ययन करने वालों को ''धर्मसेन'' का पद प्राप्त होता था वह भी उन्हें मिल गया। परन्तु उन्होंने देखा कि सचमुच यह धर्म का पथ नहीं है।

उन्होंने पूरी तरह जैन शास्त्रों का अध्ययन कर लिया था, समझ लिया था और उनको पता भी लग गया था कि इनकी विचारधारा संशयवाद की है। आज भी उन लोगों का प्रधान सिद्धान्त''स्याद्वाद'' है। स्यात् संस्कृत में कहते हैं 'शायद' हिन्दी में कहते हैं। किसी भी चीज के बारे में निश्चय नहीं कहा जा सकता, इसी तरह कह सकते हैं—शायद ऐसा है, इसी को दार्शनिक भाषा में अनेकान्तवाद कहते हैं। किसी भी चीज के विषय में

एक निश्चित अंत नहीं कहा जा सकता है। सत्य एक हुआ करता है, सत्य में अनेकता नहीं हो सकती। जो लोग धर्म, परमात्मा इत्यादि के विषय में बड़े जोर-शोर से कहते हैं कि 'किसी भी चीज के अनेक दृष्टिकोण हो सकते हैं, उन्हें ही यदि जज बना दिया जाये तो क्या वह फैसले में यह लिखेंगे कि मैं अनेकान्तवाद को मानता हूँ; यह चोर हो भी सकता है, नहीं भी हो सकता है। इसको जेल दी जा सकती है नहीं भी दी जा सकती। छोड़ा भी जा सकता है नहीं भी छोड़ा जा सकता है ?'! तो जो परमेश्वर के विषय में कह देते हैं कि इसके विषय में दिमाग खुला चाहिये वे भी जब लौकिक निर्णय के विषय में जाते हैं तो एकान्तवादी ही होते हैं, 'कोई निश्चित मत कर कर।' यही कहते हैं। अतः आदमी स्याद्वाद को वहाँ काम में लेता है जहाँ उसको कोई फर्क नहीं पड़ता। वहीं कह देता है, 'चलो ऐसा भी हो जाये वैसा भी हो जाये, क्या फर्क पड़ता है ?' इसका मतलब हुआ कि जिसके हृदय में धर्म और परमेश्वर के विषय में सच्ची जिज्ञासा होगी, वह किसी निश्चय पर पहुँचना चाहेगा, स्याद्वाद उसको काम नहीं देगा। सत्य का लक्षण करते हुये आचार्य शंकर कहते हैं जिस रूप से जो चीज निश्चित है उस रूप में वह कभी न बदले तभी उसको सत्य कहा जायेगा। वर्तमान काल में गाँधी जी इसलिये सत्य को ब्रह्म का स्वरूप मानते थे। अप्पर भी इसी प्रकार सोच विचार कर ही रहे थे कि उनके उदर में शूल उठ गया, असह्य वेदना होने लगी। सब प्रकार की औषधि चिकित्सा करा ली गई लेकिन कोई लाभ नहीं हुआ। जैनों ने अपने मंत्र इत्यादि का भी प्रयोग किया, उससे भी कोई लाभ नहीं हुआ। उनके स्वास्थ्य के लिये सद्‌भावना दी क्योंकि वह बहुत बड़े विद्वान् थे, सभी चाहते थे कि वे स्वस्थ हो जायें। लेकिन किसी चीज से लाभ नहीं हुआ।

अन्त में अप्पर ने निश्चय किया 'मैं वापस दक्षिण जाऊँगा।' प्राचीन काल से मान्यता रही है कि यदि किसी दूर देश में दीर्घ बीमारी हो जाये

तो अपने बाल्यकाल के वातावरण में पहुँच जाने से तबियत ठीक हो जायेगी। अतः उन्होंने कहा, 'मैं अब वापस दक्षिण की ओर जाऊँगा।' सारी व्यवस्था क़र दी गई। जब वे अपने गाँव के पास से निकल रहे थे तो उन्होंने विचार किया बहन से मिलना चाहिये। बचपन से बहन ने रक्षा की है। बहन से मिलने के लिये गये और उदरशूल का वर्णन किया। तिलकावती ने कहा 'यह उदरशूल नहीं है। तू अपनी परम्परा के मार्ग को छोड़कर अन्य मार्ग में गया है इसलिये तुम्हारी यह दशा है। तुम चलकर मंदिर में भगवान् शंकर से प्रार्थना करो, वे अवश्य तुम्हारी प्रार्थना स्वीकार करेंगे। हमारे पूर्वजों ने हमको हमेशा के लिये भगवान् शंकर की शरण कर दिया है। अतः तुम जैसे ही क्षमाप्रार्थना करोगे वे अवश्य तुम्हारे को शरण देंगे।' अप्पर के मन में पहले ही यह तो आ ही रहा था कि जैन मत सत्य निश्चित नहीं हो रहा। यह निमित्त भी बन गया। उधर तिलकावती बीस साल से रोज भगवान् शंकर से यही प्रार्थना करती थी, 'भाई पथभ्रष्ट हो गया है, वह रास्ते पर आ जाये।' वह तो भोली-भाली थी, सत्य की जिज्ञासा को समझने में तो समर्थ नहीं थी, उसको अपनी प्रार्थना पर विश्वास था। अप्पर ने तुरन्त यह बात मान ली और भगवान् शंकर से उन्होंने प्रार्थना की, उसी में उन्होंने कहा, 'मैं पथभ्रष्ट नहीं हुआ, मैं सत्य का ही पुजारी रहा हूँ। क्योंकि मुझे यहाँ समुचित उत्तर नहीं मिला, इसीलिये मैं वहाँ गया। परन्तु अब मैं जानता हूँ, वह रास्ता गलत है।' इसके साथ ही उनका उदरशूल ठीक हो गया और उन्होंने प्रतिज्ञा की,'अब मैं कभी आपको नहीं छोड़ूँगा।' तिलकावती बड़ी प्रसन्न हो गयी।

अगले दिन जो उनके साथी थे वे सब पहुँचे कि अब आगे चलो। उन्होंने कहा 'अब मैं कहीं जाने वाला नहीं हूँ। मेरे इस रोग को भगवान् शंकर ने दूर कर दिया है। अब आप ही चले जाओ जहाँ जाना हो, मैं अब उधर नहीं जाऊँगा।' उन लोगों ने जाकर वहाँ के राजा को खबर दी, बड़ा हल्ला

मचा। सनातन धर्म और संसार में जितने बाद में आने वाले मतमतान्तर हैं उनमें यह मूलभूत भेद है कि हम लोग प्रमाण का भरोसा करते हैं। हम जो कह रहे हैं वह युक्तियुक्त है या नहीं, अनुभवसंगत है या नहीं, हम इस पर जोर देते हैं। वे लोग हमेशा किसी न किसी बाह्य रक्षक को चाहते हैं; कभी राजा को चाहेंगे कभी राज्य व्यवस्था को और जहाँ राज्य व्यवस्था न हो वहाँ किसी अन्य प्रकार की व्यवस्था को। इसे देखकर हमारे मन में भी कई बार आता है कि ऐसी व्यवस्था हमारे यहाँ भी होती तो बड़ा अच्छा होता। पर कभी विचार कर देखो कि यहाँ पर भी अनेक प्रकार की विचारधारायें, अनेक प्रकार के विरोध आये। तब से लेकर आज तक हम लोगों ने ऐसी व्यवस्था निर्माण करने का प्रयत्न क्यों नहीं किया ? क्योंकि हम लोग मानते हैं कि धर्म मनुष्य की अन्तरात्मा से सम्बन्धित है, यह आध्यात्मिक चीज है। यह किसी के ऊपर बलपूर्वक लादने की चीज है नहीं। यदि जबर्दस्ती तुम हमारी बात मानते हो तो तुम हमारे राज्य को मानते हो, हमारी आध्यात्मिकता को नहीं। जब हमारा तुम्हारे ऊपर कोइ बाह्य बल नहीं है तब हमारी अध्यात्मशक्ति की कारगरता पता चलती है। हमारे धर्म में सबसे श्रेष्ठ माना जाता है ब्राह्मण, वह न राजा होता है न सेठ होता है। और वह ब्राह्मण भी किसको श्रेष्ठ मानता है? संन्यासी को श्रेष्ठ मानता है। क्योंकि ब्राह्मण का कम से कम झोपड़ा है, दो चार कपड़े भी होंगे ही; वह भी संन्यासी को श्रेष्ठ मानता है क्योंकि संन्यासी के पास वह भी नहीं है। वह कल तुम्हारे घर आकर कहेगा 'नारायण हरि' ः ार तुम भिक्षा दो तो ही उसको खाने को मिलेगी। अतः न उसके पास राज्य व्यवस्था है, न उसके पास दण्ड देने की शक्ति है, न वह आर्थिक प्रलोभन दे सकता है। इसलिये उसकी बात तुम केवल इसलिये मानते हो कि उसकी बात तुमको ठीक लगती है, तुम्हारे युक्ति और अनुभव के साथ मिलती है।

जैसे ही व्यवस्था का निर्माण होता है, वैसे ही उसमें तरह-तरह की अन्य

चीजों का प्रवेश हो जाता है जो फिर उस आध्यात्मिकता को नष्ट कर देती हैं। बहुत पहले हमने फ्रांस देश के एक एबट की किताब पढ़ी थी। वहाँ पर भी ऐसे मठ बनाने का प्रयास होता रहता है जहाँ केवल आध्यात्मिक विचार हों, सांसारिक लोग न हों। उसने लिखा था कि हम चाहे जितना प्रयास करें कि प्रवृत्ति-प्रधान लोगों को प्रवेश न हो परन्तु दो चार ऐसे लोग प्रविष्ट हो ही जाते हैं। धीरे-धीरे जो निवृत्ति-प्रधान हैं वे तो हर काम से दूर ही रहना चाहते हैं और प्रवृत्ति-प्रधान हर काम में झट आगे बढ़कर अन्त में प्रधान पद पर पहुँच जाते हैं। और जब प्रधान पद पर पहुँच जाते हैं, तो जो निवृत्ति-प्रधान आध्यात्मिक लोग हैं उनके जीवन को दूभर करके उन्हें निकाल कर ही दम लेते हैं। यह बात बिल्कुल ठीक है। इसीलिये हमारे प्राचीन आचार्यों ने कभी ऐसा प्रयत्न किया नहीं, क्योंकि इसके द्वारा धर्म का ज़ो आध्यात्मिक रूप है, वही नष्ट हो जाता है।

जैनों ने तो अपनी विचारधारा राज्याश्रय से बढ़ाई थी। उन्होंने जाकर राजा से शिकायत की, यह हमारा आचार्य था, वैदिक लोगों ने खराब कर दिया है, इसे दण्डित करना चाहिए। राजा ने पहले आदमी भेजकर अप्पर को जैन मत में लौट आने के लिये कहलवाया। अप्पर ने जवाब दिया 'मैं किसी को राजा नहीं मानता, मैं किसी के सामने झुकूँगा नहीं। सिवाय भगवान् शंकर के मेरा कोई राजा नहीं है।' ब्राह्मण राजा का अभिषेक करता है तो कहता है कि 'तुम इनके राजा हो, उनके राजा हो, सबके राजा हो किंतु हम ब्राह्मणों के नहीं। हमारे तो उमा सहित भगवान् शंकर ही राजा हैं।' राजा ने अप्पर को पकड़ मँगवाया। जैनों ने सलाह दी कि इसे चूने की भट्टी में सात दिन के लिये रख दें। अप्पर चूने की भट्टी में भी भगवान् शंकर का ध्यान करते रहे और बिल्कुल ठण्डे ही निकले! जैनों ने तो सोचा था कि हड्डियाँ भी जल गई होंगी और वहाँ उनका कुछ भी नहीं बिगड़ा। उन्होंने विचार किया कि इससे काम नहीं हुआ तो इसको विष दे दिया जाये। उन्होंने

विष भी खा लिया, उसका भी कोई असर नहीं। फिर उनको पागल हाथियों ने नीचे कुचलने का दण्ड दिया गया। उन्होंने हाथियों से प्रार्थना की कि तुम भगवान् गणेश के रूप हो। हाथी तब उनके पास घुटने टेक कर बैठ गये और वापस आकर जो जैन लोग थे उन्हें ही मारने दौड़े। कई मर भी गये। अन्त में उन्होंने कहा कि इसे मारने के लिये समुद्र में पत्थर से बाँधकर डाल दिया जाये। जिस पत्थर से उन्हें बाँधकर समुद्र में डाला था, उनकी प्रार्थना पर भगवान् ने उसी को नौका बना दिया ! अप्पर उसी के सहारे किनारे आ लगे। अब राजा को निश्चय हो गया कि ये कोई साधारण व्यक्ति नहीं हैं। उनसे पूछा गया कि तुम्हारे पास बल क्या है? अप्पर ने कहा 'मेरे पास तो सिर्फ ॐ नमः शिवाय ही है, और कुछ नहीं है। परमेश्वर ही एकमात्र मेरी शरण है और कोई तन्त्र-मन्त्र कुछ भी नहीं है। ये सब उन लोगों के लिये हैं जो संसार को सत्य मानते हैं।'

इस प्रकार जो वेद पर पूरी श्रद्धा से रहता है, वही इस संसार वृक्ष को सचमुच में पुष्ट कर सकता है। जो परमेश्वर में श्रद्धा वाला नहीं है, वह तो अपने स्वार्थ के लिए ही सारे कार्य कर सकता है। इसीलिये विद्वान् कहते हैं परमेश्वर की श्रद्धा से जो रहित होगा उससे परोपकार भी नहीं होगा। वह जो परोपकार करता है वह दूसरों को ठगता है। जो केवल परमेश्वर के भरोसे रहता है वही संसार वृक्ष को पुष्ट कर सकता है। सबको सुखी करने की सामर्थ्य उसमें आती है। इसीलिये भगवान् ने कहा "छंदांसि यस्य पर्णानि"।

प्रवचन—६

भगवान् संसार वृक्ष का वर्णन करते हुये कहते हैं यह अश्वत्थ है। जैसे पीपल का पत्ता अत्यन्त चंचल होता है, स्थिर नहीं होता, इसी प्रकार यह

संसार माया का कार्य होने से इसमें कोई स्थिरता नहीं है। बाजीगर खेल दिखता है तो चीज ऐसी ही दीखती है जैसे संसार की स्थिर चीज दीखती है, परन्तु जैसे ही बाजीगर अपना खेल खत्म करता है वैसे ही वहाँ कुछ बचता नहीं। बाजीगर चाहे दस मिनट खेल दिखाये या दस घण्टे खेल दिखाये। प्राचीन काल में ऐसे बाजीगर या ऐन्द्रजालिक होते थे जो छह महीने तक खेल दिखला देते थे। लेकिन वह खेल चाहे दस मिनट का हो, दस दिन का हो, या छह महीने का हो, जब तक खेल दीखता है तब तक तो सब ठीक है और खेल दिखाने वाले ने बन्द किया तो वहाँ कुछ भी नहीं है। इसी प्रकर परमेश्वर भी ऐन्द्रजालिक की तरह खेल दिखाता है, हमें वह बड़ा लम्बा खेल लगता है। सृष्टि के आदिकाल से अन्तकाल तक पदार्थ वैसे के वैसे स्थिर लगते हैं। न जाने कितने लाख साल हो गये हिमालय को, न जाने कितने लाख साल हो गये गंगा यमुना को, वैसी की वैसी धारा बह रही है, वैसा का वैसा हिमालय खड़ा है। इसलिये जब कहते हैं कि यह संसार अस्थिर है तब यह बात समझ में नहीं आती। अतः भगवान् कहते हैं कि 'अश्वत्थम्' है तो यह कल नहीं रहने जैसी चीज, लेकिन 'अव्ययम् प्राहुः' बड़े-बड़े विचारक लोग भी इसे नित्य मानते हैं। क्यों नित्य मानते हैं ? कल बतलाया था 'छन्दांसि यस्य पर्णानि'—वेद इसके पत्ते हैं, इसकी रक्षा करते हैं। एक रक्षा करना कल बतलाया था, इसको पुष्ट करते हैं।

दूसरी भी एक पुष्टि है। संसार में ऐसा कोई आदमी नहीं होता जिसमें कोई न कोई गलती न हो। चाहे जितने सावधान रहो, चाहे जितना अपने ऊपर नियन्त्रण रखो, कभी न कभी कोई न कोई भूल होती ही है। जो तुमको प्रेम की दृष्टि से देखता है, वह तो उस गलती को ढाँक देता है और जो तुमको कुदृष्टि से देखता है वह तो बस गलती की तरफ ही नजर रखता है, उसी को बढ़ा-चढ़ा कर कहता है। यदि तुम्हारे आस-पास ऐसे लोग हैं जो तुम्हारी गलती को ढाँक देते हैं, तब तुम आगे पुष्ट हो सकते हो, उन्नति

कर सकते हो। प्रायः लोग पूछते हैं, गाँधी जी के समय इतने नेता तैयार हुये, बाद में क्यों नहीं हुये ? प्रधान कारण यदि उस समय के इतिहास को ध्यान से देखो तो वे नेता भी वैसे ही थे, कमजोरियाँ थीं, आपस में झगड़ते थे, बुरी तरह से झगड़ते थे। पर गाँधी जी उनकी गलतियों को दबा कर आपस में समझौता करवा देते थे। आज ठीक उससे विपरीत दृष्टि है। थोड़ा सा भी दो में मतभेद हो तो सोचते हैं इनको लड़ाने से हमारा काम हो जायेगा। और इसलिये कोई पुष्ट नहीं हो पाता, उन्नत नहीं हो पाता। ठीक यही बात घर में बच्चों के साथ है। बहुत से माता-पिता की यह आदत होती है, अपने बच्चों की कमजोरी सबके सामने प्रकट करते रहेंगे कि इसमें यह गलती है। वे बच्चे कभी उन्नत नहीं हो पाते। जो समझदार माँ बाप होते हैं वे अपने बच्चे की गलती को छिपाकर रखते हैं। इसका मतलब नहीं की उसकी गलती पर डाँटते-फटकारते नहीं, दबाते नहीं, दण्ड नहीं देते; सब कुछ करते हैं, परन्तु स्वयं तो सब कुछ कर लेंगे दूसरों के सामने ढाँक कर रखेंगे। धीरे-धीरे बच्चे में सुधार आता है। मनुष्य की एक विलक्षण प्रकृति है, समाज में यदि हमारी कोई इज्जत है तो हम उस इज्जत को बचाकर रखना चाहते हैं। मनुष्य एक ऐसा सामाजिक प्राणी है, समाज हमें निरन्तर हेय दृष्टि से देखे, खराब दृष्टि से देखे, यह हमें सहन नहीं होता। इसलिये जब मनुष्य का अपयश होता है, अपकीर्ति होती है तो उसको भारी चोट लगती है। यदि हमारे बच्चे को पता है कि दस आदमी मुझे ऐसा अच्छा समझते हैं, वह अच्छाई उसमें है नहीं, तो वह प्रयत्न करता है कि इन दस आदमियों के सामने मेरी वह अच्छाई बनी रहे। अतः वह कोशिश करता है, प्रयत्न करता है कि मेरी अच्छाई लोगों के सामने आये। और अगर उसको पता है कि लोगों के मन में मेरे प्रति ये अच्छी भावनायें नहीं हैं, तो फिर वह वैसा करने का प्रयत्न भी क्यों करेगा ? उलटा तब सोचता है, 'ये लोग तो मेरे विषय में ऐसा सोचते ही हैं, तो फिर मैं ऐसा ही क्यों न करूँ।'

इसी प्रकार वेद इस संसार वृक्ष की कमियों को ढाँकते हैं। कभी किसी पेड़ के पास जाकर उसके तने और शाखाओं को देखो तो खुरदुरे होते हैं। जो उसका तना है उसके ऊपर देखो तो छोटे-छोटे मानो टुकड़े टूट रहे हैं ऐसा ऊपर का सारा उसका हिस्सा होता है। कोई शोभा नहीं दीखती। परन्तु जब पत्तों से लदा होता है तब सारी उसकी खुरदुराहट ढक जाती है और पेड़ ऐसा दीखता है जैसे बड़ा चिकना हो; पर चिकने तो पत्ते हैं। पत्ते अपनी चिकनाहट के कारण पेड़ की उस खुरदुराहट को छिपा देते हैं। इसी प्रकार यह संसार सर्वथा क्षणिक है। परन्तु वेद इसकी क्षणिकता को ढाँक देता है। ढाँकने के लिये वह इसके अन्दर प्ररोचन के लिये संसार को स्थिर बताता है। है वह प्ररोचनोक्ति किन्तु अविचारशील उसे जैसा कहा वैसा ही समझकर मान बैठते हैं'न हि कदाचिद् अनीदृशं जगत्!' यह दुनिया हमेशा ऐसी ही रही है, ऐसी ही बनी रहेगी। वेद, संसार को जो अच्छा बताता है, वह प्ररोचन के लिये, संसार को तुम ऐसा समझ कर उचित व्यवहार करो, योग्य व्यवहार करो, अयोग्य व्यवहार मत करो। किसी से सीधा कह दो संसार क्षणिक है, तो जैसे आजकल लोगों में प्रचार हो गया है—करने के बाद कुछ है यह किसने देखा है ? ऐसा नास्तिकताका भाव आ जाता है। कभी अपने बच्चों से पूछो, 'मरने के बाद जीव रहता है कि नहीं रहता' उन्हें कुछ पता नहीं। अन्दर से उनका भाव है, 'नहीं ही रहता होगा।' पहले कौन बड़ा आदमी माना जाता था? जिसके पास रुपया होता था। ये नगरसेठ हैं, क्योंकि इनके पास एक करोड़ रुपया है। आज कौन बड़ा आदमी माना जाता है? जिसके पास दस करोड़ उधार लेने की ताकत है। इसलिये हर व्यक्ति अपनी सामर्थ्य के अनुसार पाँच करोड़ दस करोड़, अथवा देश है तो पाँच सौ करोड़, हजार करोड़ दूसरे देशों से उधार लेता है। जैसे ही कोई उधार लेकर आता है पार्ल्यामिन्ट वगैरह सब खूब खुश होकर कहती है 'कितना बढ़िया मिनिस्टर है, वहाँ से रुपये ले आया!' अरे भाई, उधार लाया है। बोलेंगे 'उधार ही

सही, अपने को तो रुपया चाहिये, आगे देना किसको है।' यह सारी भावना क्यों ? जैसे ही संसार के विषय में तुमने सोचना शुरू किया, 'आगे किसने देखा है,' तो सहज है कि तुम सोचो कि जो कुछ काम करना है आज ही कर लो। इस समय जो विश्व के अन्दर, नैतिकता का सबसे बड़ा ह्रास हुआ है उसमें प्रधान कारण है कि द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद योरोप की ऐसी स्थिति हो गई थी कि वहाँ के बच्चों को अगले क्षण का ही पता नहीं था, सब कुछ नष्ट हो गया था। अतः उन लोगों के मन में भोगवाद बड़ा प्रधान हो गया। दस साल के बच्चों का जीवन भोगवादी हो गया था और अभी भी है। जो कल्पनायें पच्चीस साल के जवान नहीं करते थे, वे आठ-दस साल के बच्चे करने लगे। कारण क्या? अस्थिरता मनुष्य के मन में यह भाव ले आती है। अतः वेद प्ररोचन करता है, जो कुछ करोगे तुमको जरूर मिलेगा। तुम अच्छा या बुरा जो करोगे, उसका फल तुमको अवश्य मिलेगा। जब यह निश्चय होगा तभी न तुम आगे प्रवृत्ति करोगे ठीक से। कहा इसलिये जा रहा है कि तुम अच्छा कार्य करो परन्तु इससे कुछ लोग मोहित होकर कामनाओं से ग्रस्त हो जाते हैं। मीमांसक कहते हैं कि कभी भी ऐसा समय नहीं होगा कि यह संसार ऐसा नहीं रहेगा। संसार से आगे कुछ नहीं है, बस जो कुछ है यहीं है। वेद तो कर्म में प्रवृत्त करने के लिये कहता है द्युलोक भी ध्रुव है, नित्य है, यह पृथ्वी भी नित्य है। वेद कहता है जो लोग बड़े-बड़े यज्ञ करके दक्षिणा देते हैं वे अमरता प्राप्त करते हैं। स्वर्गलोक में जाने पर कोई भय नहीं होता। स्वर्गलोक में जाकर मनुष्य सारे दुःखों से रहित हो जाता है। इस प्रकार के वाक्य देख कर लोग समझते हैं संसार हमेशा ही ऐसा रहता है अतः इससे जो ऊर्ध्व, उत्कृष्ट परब्रह्म परमात्मा है, उसे प्राप्त करने से क्या लाभ ? लोक में भी कई बार जो चीज फायदे के लिये कही जाती है मनुष्य उसे गलत समझ कर उसी से अपना नुकसान कर लेता है।

सत्ययुग में वशिष्ठ गोत्र के ब्राह्मण थे सुमन्तु। उनको भृगुवंश की कन्या दीक्षा विवाह में प्राप्त हुई थी। उससे सुशीला नाम की एक कन्या भी उनके हुई। कन्या होने के बाद उनकी पत्नी दीक्षा को भयंकर ज्वर हो गया। बहुत औषधियाँ दी गई लेकिन कुछ लाभ नहीं हुआ। अन्ततोगत्वा वह मर गई। पुत्र था नहीं इसलिये सुमन्तु ने विचार किया दूसरा विवाह करें। जब दूसरा विवाह किया तो दूसरे विवाह में जो उनको कन्या मिली उसका नाम था कर्कशा—जैसा नाम था वैसा ही स्वभाव था। कर्कश कहते हैं कड़वे को। जिसके सारे आचरण, बोली सब कुछ कानों को कड़वी लगें। संस्कृत में कर्क कहते हैं केकड़े को, केकड़े को देखो तो चारों तरफ उसके इस प्रकार के पैर होते हैं जो चुभें। तो जो कर्क की तरह हो उसे कर्कशा कहेंगे। उस लड़की का नाम भी कर्कशा था और बुद्धि भी कर्कशा। प्रायः जब मनुष्य द्वितीय विवाह करता है तो ऐसी ही लड़की मिलती है। उससे उनको पुत्र तो हो गया लेकिन वे रहते दुःखी थे। इस बीच सुशीला बड़ी हुई। सुशीला को वह तरह-तरह से कष्ट देती थी। जब पति के प्रति ही कर्कशा थी तो सौत की लड़की से व्यवहार का क्या ठिकाना। कई बार सुमन्तु उसको समझाते थे 'देख, ऐसा मत कर, कन्या है, चली जायेगी। क्यों इस दोष को लेती है?' परन्तु समझाने पर वह और भी उन पर बिगड़े। सुशीला के प्रारब्ध से ही एक लड़का उसको मिल गया, नाम था कौण्डिल्य। उसके साथ विवाह कर दिया गया। सुमन्तु ने बहुत कहा 'लड़की जा रही है, कुछ तो दे दे।' पर उसने कहा 'कुछ भी नहीं दूँगी।' प्राचीन काल था, ब्राह्मणों के घर थे। कौण्डिल्य ने भी कहा 'चलो लड़की मिल गई बहुत है।' कुंकुम कन्या की प्राप्ति होना ही पर्याप्त समझते थे। वर्तमान शिक्षा तो आई नहीं थी, उस समय कन्या को इज्जत की चीज मानते थे। कन्या का सत्कार करते थे। आधुनिक शिक्षा हमको सिखलाती है कि कन्याओं को जला देना चाहिये अगर दहेज न लावें तो। अब कन्या हो गई धन-प्राप्ति का साधन, अब

कन्या आदर की चीज नहीं रही। कौण्डिल्य संतोष से चला गया। सुमन्तु ने अपनी पत्नी से कहा, 'चल और कुछ नहीं देती है तो ये रास्ते में जायेंगे कुछ खाने के लिये तो बना दे।' कर्कशा ने भोजन बनाते समय जो बचा हुआ पलथन का आटा होता है जो बिल्कुल खाने योग्य नहीं होता, वह दे दिया और एक खाली बक्सा दे दिया, उसके अन्दर कुछ भी नहीं था।

दोनों वर-वधु एक नदी के किनारे रुक गये। कौण्डिल्य थका हुआ था, वह सो गया। सुशीला के मन में जरा दुःख था तो नींद नहीं आई। इधर-उधर जाकर देखने लगी। नदी के किनारे, कुछ लोग पूजन कर रहे थे। उसने कहा 'आप लोग क्या पूजन कर रहे हैं ?' कुछ औरतें वगैरह थीं। उन्होंने कहा 'हम यहाँ भगवान् विष्णु का पूजन कर रहे हैं। इस पूजन से भगवान् सब तरह से रक्षा करते हैं।' उसने भी नमस्कार किया और उन लोगों से पूछा 'हम को भी पूजन का तरीका बता दो,' तो उन्होंने पूजन का बड़ा सीधा-सादा तरीका बतलाया। एक सेर अनाज ले लो, उसे पका लो, उसमें से आधा तो ब्राह्मण को दे दो और आधा खुद खा लो। पूजा नदी के किनारे करनी चाहिये। स्नान करके पूजा करे। पूजा के अन्दर कुमकुम के साथ चतुर्दश ग्रन्थि वाला दोरख (डोरा) रखे, गन्ध अक्षत पुष्प से उसका पूजन करे। इस प्रकार पूजन करके, उसको धारण करे तो मनुष्य पर किसी प्रकार की आपत्ति नहीं आती, भगवान् विष्णु रक्षा करते हैं। उसने विचार किया यह बड़ा सरल पूजन है तो उसने भी उस पूजन को करने का निश्चय किया। उसने भी वह पूजन किया और दोरख (डोरा) धारण कर लिया। घर में धीरे-धीरे कौण्डिल्य ने देखा, उसकी माता ने देखा, पिता ने देखा कि पहले की अपेक्षा धन बढ़ता जा रहा है। पुराने लोग थे, मानते थे अगर नई वधु के आने के साथ घर के अन्दर श्री की वृद्धि होती है तो लड़की हमको अच्छी फली। यद्यपि सुशीला लाई तो कुछ नहीं थी परन्तु उसके इस पूजन के फलस्वरूप सब तरह से घर में श्री की वृद्धि हुई इसलिये सब लोग प्रसन्न थे। धीरे-धीरे

धन बढ़ता गया। धन सम्पत्ति में एक विलक्षणता है : जब तक नहीं होता है तब तक तो इसकी इच्छा होती है और जब हो जाता है तो फिर मनुष्य के मन में अत्यधिक घमण्ड आ जाता है। इसलिये महर्षि आपस्तम्ब लिखते हैं 'हृष्टो दृप्यति, दृप्तो धर्ममतिक्रामति।' धन, सम्पत्ति इत्यादि मिलने पर मनुष्य को हर्ष होता है। हर्ष होने पर उसमें दर्प, घमण्ड आ जाता है और घमण्ड आने पर धर्म का अतिक्रमण करता है। इसलिये अनेक संत प्रार्थना ही करते हैं, 'अधिक धन मेरे घर में न हो, बस इतना ही होना चाहिये कि 'मैं भी भूखा न रहूँ साधु न भूखा जाये'। अधिक धन होगा तो मनुष्य के मन में दर्प आकर धर्म का अतिक्रमण होता है। इसलिये जब कभी धन की अधिकता हो तुरन्त उसका दान में विनियोग करना चाहिये, रखा हुआ धन दुःख का कारण होता है। यह ऋग्वेद के समय से ही कहा गया है सौ हाथों से बटोरो पर हजार हाथों से बाँटो। इसी प्रकार किसी हिन्दी के कवि ने भी कहा है–

'ज्यों जल बाढ़े नाव में घर में बाढ़े दाम।
दोऊँ हाथ उलीचिये यही सयानो काम।।'

यदि नाव में पानी आने लगे तो झट उसे निकालने की सोचो यह मत सोचो कि पानी भर जाने दो। नाव को ले डूबेगा। इसी प्रकार यदि घर में धन बढ़ता है तो तुरन्त दान के द्वारा उसको बाँटने लगो, यह मत सोचो कि यह रहकर कोई सुख देगा, वह डुबा देता है। दोनों हाथों से उलीच दो।

कौण्डिल्य ने ऐसा किया नहीं, धीरे-धीरे दर्प आने लगा। एक दिन सुशीला के हाथ में बँधा हुआ वह दोरख देखकर उसने पूछा 'अरे यह क्या बाँधा है? क्या डोरा बाँधा है ? मुझ पर वशीकरण करना चाहती है क्या?' उसने कहा 'ऐसी बात नहीं है, यह तो भगवान् विष्णु का पूजन कर मैंने बाँधा है।' 'क्या होता है विष्णु भगवान् का डोरा बाँधने से ?' कौण्डिल्य ने धागा खींचा और तोड़कर फेंक दिया। सुशीला उसको बचाने गई तो

कौण्डिल्य ने सोचा फिर उठा लेगी अतः उसने धागे को आग में फेंक दिया। यही होता है धर्म का अतिक्रमण। धर्म के अतिक्रमण का बीज यही होता है कि मैं सब कुछ कर सकता हूँ, और कौन देवी-देवता हैं जो मेरा कुछ बिगाड़ सकते हैं। सुशीला बड़ी दुःखी हुई लेकिन कर क्या सकती थी ? जो कुछ राख इत्यादि थी उसे जल दूध इत्यादि के अन्दर डालकर रखा कि लोगों के पैर में न आवे। देवता न प्रत्यक्ष में लाभ करते हैं न हानि करते हैं, वे ऐसे निमित्त बना देते हैं कि स्वतः प्रवृत्ति होती है। धीरे-धीरे कौण्डिल्य का धननाश होने लगा। जब कुछ साल बीत गये और सब तरह से परिस्थितियाँ खराब होने लगी तो एक दिन दुःखी होकर कहने लगा सुशीला से 'अपनी इतनी अच्छी स्थिति थी, अब ऐसी बुरी हो गई, पता नहीं क्यां हो गया?' शास्त्रकार कहते हैं कि दुःख एक ऐसी डोरी है जिससे भगवान् जीव को अपनी ओर खींचते हैं। अब कौण्डिल्य विचार करने लगा। सुशीला ने कहा 'अगर आप नाराज न हों तो कहूँ।' उसने कहा 'कहो।' 'भगवान् विष्णु की कृपा से मैंने पूजन किया था और कर भी रही थी। तब तक तो अपने घर में सब ठीक था। आपने उस बार उसे रोक दिया। मुझे लगता है कि उन्हीं की अप्रसन्नता से यह आपत्ति हम लोगों पर आई है।'

उसने विचार किया कि मैं जंगल में जाकर तपस्या करूँ और भगवान् विष्णु से क्षमा-प्रार्थना करके फिर अपनी हालत ठीक करूँ। तपस्या करते हुये जंगल में घूम रहा था तो उसे बड़ा सुन्दर आम का पेड़ दिखाई दिया। उसने आम के पेड़ से पूछा 'भाई, तुम तो यहाँ के बहुत पुराने पेड़ हो। तुमने क्या यहाँ कभी भगवान् के दर्शन किये?' आम ने उसे इशारे से समझा दिया कि तुम आगे जाओगे तो तुम्हे भगवान् के दर्शन होंगे। आगे गया तो उसे एक गाय मिली। गाय से भी उसने प्रार्थना की। गाय ने भी उसे आगे जाने का संकेत किया। और आगे जाने पर उसे एक बैल मिला। उसने भी उसे आगे बढ़ने का संकेत दिया। आगे जाने पर दो नाले मिलते थे, वहाँ उसे

एक हाथी मिला। उसने भी उसे आगे जाने को कहा। और आगे जाने पर एक गधा मिला, उसने भी आगे जाने के लिये कहा। आगे जाने पर उसे एक ब्राह्मण मिले। उन्होनें उससे पूछा 'क्या बात है?', उसने बतलाया 'यदि भगवान् के दर्शन नहीं होंगे तो मैं अपना आत्मघात कर लूँगा। बिना भगवान् को पाये मैं वापस जाने वाला नहीं।' जब ऐसा दृढ निश्चय उसने कर लिया तब भगवान् प्रकट हो गये! उसे प्रायश्चित्त भी बता दिया।

उसने पूछा कि 'महाराज! इस तरफ आने का संकेत देने वाली मुझे अमुक-अमुक चीज़ें मिली थीं उन्हें आपके बारे में कैसे पता था ? सबसे पहले आम का वृक्ष मिला था।' भगवान् ने बताया वह जो आम का पेड़ मिला था, वह पूर्व जन्म में वेद विद्याओं में अत्यन्त कुशल ब्राह्मण था, परन्तु वेद विद्या को पूरी तरह जानते हुये भी आगे वह परम्परा चला कर लोगों को सिखाता नहीं था। इसलिये वह पेड़ की योनि को प्राप्त हुआ। जैसे जिसके पास धन है यदि वह धन नहीं देता है तो वह उसके नशे का कारण बन जाता है, वैसे ही जिसके पास विद्या हो, वह विद्या नहीं देता है तो उसके नाश का कारण होती है। विद्या नहीं देने वाले बड़ी चतुराई करते हैं। इस आदमी को अधिकार नहीं है, हमको अच्छे अधिकार वाला नहीं मिला हम कैसे देवें? हमारे एक परिचित बड़े अच्छे विद्वान् थे, उनके पास तन्त्र के बड़े सुन्दर ग्रन्थ थे, किसी को देते नहीं थे। हम लोगों का ख़्याल था कि चलो कोई बात नहीं है, अन्त में जब चले जायेंगे तब तों ग्रन्थ मिल ही जायेंगे। मरने के छह महीने पहले वे सारी किताबों को बटोर कर गंगाजी में बीच में जा कर डाल आये! ऐसे लोग होते हैं। सम्पूर्णानन्द जी ने लिखा है कि एक उनकी ताई थी, उसके पास आँख की बड़ी अच्छी दवाई थी। उन्होंने लिखा है 'मैंने उससे बहुत कहा 'तुम दवाई बता दो', उनको पता था कि मैं धन का लोभी हूँ नहीं, मैं इसके द्वारा पैसा नहीं कमाऊँगा, अन्त में मर गई पर बता कर नहीं ही गई।' इसी प्रकार दान नहीं करने वाला

व्यक्ति हमेशा यही कहता रहेगा 'अरे दान का कोई पात्र मिले तब न दान करूँ, कोई पात्र नहीं है, कोई अधिकारी ही नहीं।' उसी प्रकार जिसको विद्या नहीं देनी है, वह यही सोचता है कोई पात्र ही नहीं है। अगर अपनी तरफ दृष्टि डालें, हमारे में कितनी पात्रता है जो हमारे गुरुओं ने हमको दे दिया? तो ऐसा भाव न आये। वह ब्राह्मण वेद विद्या को जानते हुये भी देता नहीं था इसलिये पेड़ बना। ज्ञान तो इसको है इसलिये इसने कहा कि 'उधर जाओ भगवान् मिलेंगे', परन्तु खुद की यह हालत हो गई।

पेड़ के बाद तुमने गाय देखी। वह पहले ज़मीन थी। बहुत-सी जमीन ऐसी होती है कि उसमें बीज डालो तो बीज को खा जाती है। वह वसुन्धरा इस दशा की प्राप्त हुई। किसी समय में राजा पृथु के काल में भी सारी पृथ्वी ने इसी प्रकार बीजों को अपने अन्दर कर लिया था। अन्त में पृथु को बड़ी मेहनत कर दुह कर सब बाहर निकालना पड़ा। आगे तुमको वृषभ मिला। वह धर्म था। धर्म को अपने यहाँ वृषभ कहा है। इसीलिये भगवान् शंकर वृषभ पर बैठते हैं। धर्म के ऊपर ही परमेश्वर की गति होती है, धर्म के आधार पर ही परमेश्वर को चलना है। जो तुमको दो पुष्करिणियाँ मिली थीं, दो नाले मिले थे वे धर्म और अधर्म के प्रवाह थे। जो धर्म अधर्म का विचार कर धर्म के आधार पर स्थिर रहता है वही उन्नति को प्राप्त करता है। इन सबके बाद गधा दीखा था। गधा क्रोध है। जिस प्रकार गधा देखने से कार्य असिद्ध हो जाता है उसी प्रकार क्रोध के कारण मनुष्य के सारे कार्य असिद्ध हो जाते हैं। इसलिये शास्त्रकारों ने क्रोध को पंचम चाण्डाल कहा है। काशी में एक महात्मा स्नान करके आ रहे थे तो किसी चाण्डाल से वह छू गये। उन्होंने उसको एक थप्पड़ मारा और कहा 'तूने मुझे छू दिया, अब मुझे नहाना पड़ेगा।' काशी का चाण्डाल था! काशी में तो सबको पवित्र करने की सामर्थ्य है। उस चाण्डाल ने जवाब दिया 'स्वामी आप नहाओगे या नहीं यह मालूम नहीं, पर मुझे तो जाकर नहाना ही पड़ेगा।' उन्होंने कहा

'अरे मैं अच्छा ब्राह्मण संन्यासी, मुझे छूकर क्यों तू नहायेगा ?' बोला 'जी इस समय आपके अन्दर जो सबसे निकृष्ट चाण्डाल है उसका निवास है। उससे छू गया तो मुझे जाकर नहाना ही पड़ेगा।' महात्मा समझदार थे, समझ तो गये ही। सबसे निकृष्ट चाण्डाल अपने यहाँ क्रोध को माना है। और तुझे जो हाथी दीखा था वह मद है घमण्ड है। इन सब चीजों को दूर कर जब तू मेरे पास आया तो ब्राह्मण रूप से मैं खुद ही था। तुम्हारी परीक्षा ले रहा था कि तुम सर्वथा दर्शन चाहते हो या और कुछ।

इसके बाद कौण्डिल्य वापस आया, जैसा प्रायश्चित्त बताया था वैसा किया और पुनः अपनी सदवस्था को प्राप्त किया।

विचार करो; शास्त्र तो हमको प्ररोचन के लिये संसार के अन्दर रहकर भी तुम आगे उन्नति करो उसके लिये इन रास्तों को बताते हैं। परन्तु हम कौण्डिल्य की तरह अविचार में जाकर दर्प में पड़ जाते हैं और इसलिये रास्ते से चूक जाते हैं। फिर भी कभी न कभी समझ आ जाये इसलिये वेद इस चीज को बतलाता है। यद्यपि यह संसार वृक्ष अनित्य है, दुःख रूप है, मोह में डालने वाला है, अत्यन्त अनर्थकारी है, तथापि इस दोषजात को वेद इस प्रकार छादन करके छिपा देता है कि तुम इस संसार के अन्दर ठीक प्रकार का आचरण करके अन्त में परमात्मा की प्राप्ति करो :

प्रवचन—७

संसार वृक्ष का वर्णन करते हुये भगवान् ने इसकी जड़ परब्रह्म परमात्मा को बतलाया। यह वृक्ष वेद रूप पत्तों से ही पुष्ट होता है, वेद ही इसकी अनित्यता, दुःखरूपता, व्यामोहकता अनर्थकारिता इत्यादि दोषों को इस प्रकार से ढाककर रखता है जिससे मनुष्य इसका पूरा लाभ उठा सके। सारे पुराण, इतिहास अर्थात् रामायण, महाभारत, भिन्न-भिन्न प्रकार के कर्मों

का प्रतिपादन करने वाले श्रौत सूत्र, धर्म सूत्र, गृह्य सूत्र, भिन्न-भिन्न उपासनाओं को बताने वाले शाण्डिल्य सूत्र, इसी प्रकार योग इत्यादि के प्रतिपादक, भिन्न भिन्न देवताओं की उपासना बताने वाले आगम शास्त्र, भिन्न-भिन्न मन्त्र और यन्त्रों के प्रयोग बताने वाले तन्त्रशास्त्र, ये सभी विभिन्न क्रियाओं का प्रतिपादन कर मनुष्य को ऐसा रास्ता बतलाते हैं कि वह जो कर्म करे उसमें सफल हो। प्रत्येक मनुष्य कर्म से कुछ प्राप्त करना चाहता है, परन्तु देखता है कि बार-बार प्रयत्न करने पर भी सफलता नहीं मिलती। कर्म को करने से कौन से फल की प्राप्ति होगी—इसका शास्त्रों में विस्तार से प्रतिपादन किया है। परन्तु इस प्रतिपादन के कारण मनुष्य समझ लेता है कि इतना ही पर्याप्त है। अतः वह संसार वृक्ष की वृद्धि का कारण वेद को बना लेता है, संसार वृक्ष से निवृत्ति का नहीं।

वृक्ष शब्द छेदनार्थक धातु से बना है। अतः वृक्ष का अर्थ है जो काटने योग्य है। यह संसार वृक्ष परमात्मा ने बनाया है कि तुम इसे काट कर इसके बन्धन से निकल जाओ। इसलिये यहाँ पर उसे वृक्ष कहा है। काटने का तरीका क्या है? अगर किसी पेड़ को काटना हो तो उस पेड़ की ही एक डाली लेकर, लोहे के फाल में उसका बेंटा लगाकर उस पेड़ को काटना पड़ता है। यदि तुमने उसको काटने वाली कुल्हाड़ी के अन्दर ठीक लकड़ी नहीं लगाई तो कटेगा नहीं। इसी प्रकार इस संसार वृक्ष के अन्दर ठीक प्रकार के कर्म उपासना योग आदि अभ्यास करने पर ही उस असंग शास्त्र की प्राप्ति होगी जिससे इसे काटा जा सके। अतः उपयोग इसका इसमें है कि हम संसार वृक्ष से निकल जायें, परन्तु इसकी रमणीयता, इसकी मोहकता, वेदों के प्ररोचनवाक्यों से मनुष्य के मन में बढ़ जाती है। प्रश्न होता है कि आखिर संसार वृक्ष को जानकर क्या लाभ है ? ठीक है, वेद इसके पत्ते हैं, इन पत्तों के द्वारा इस संसार वृक्ष के अन्दर, अर्थात् वेदों के द्वारा ठीक प्रकार का कर्म उत्पन्न हो कर, धर्माधर्म उत्पन्न होकर ठीक प्रकार के सुख

दुःख रूप फूल लगेंगे। परन्तु देगा तो यह जन्म-मरणादि दुःख फल ही। धर्म से पुण्य होगा, पर उस पुण्य से होगा क्या? कहीं न कहीं अच्छी जगह जन्म ही तो मिलेगा। चाहे जहाँ जन्म मिले, होने के बाद दुःख से नहीं बच सकते।

इसको स्वयं भगवान् ने जन्म लेकर बतला दिया है। भगवान् राम ने जन्म लिया। उनसे ज्यादा शुभकर्म किसी के नहीं हो सकते। अभी पैदा होकर बारह साल के ही थे तो तीर्थ यात्रा में निकल गये। वहाँ तरह-तरह के सत्संग आदि का श्रवण कर उनके मन में तीव्र वैराग्य हो गया। वापस आये तो इतना वैराग्य था कि कोई नहाने को कहे तो नहायें, खाने को कहे तो खायें, नहीं तो खायें ही नहीं। किसी चीज की ओर प्रवृत्ति हो ही नहीं रही थी। इस सारे संसार का क्या मूल है—इसके विचार में लगे रहते थे। अन्ततोगत्वा वशिष्ठ जी के द्वारा, उनको उपदेश मिलने पर उनकी शंकाओं का समाधान हुआ। तब तक विश्वामित्र जी पहुँच गये। तब रामचन्द्र जी सोलह साल के भी नहीं हुये थे, पन्द्रह वर्ष खतम हो गये थे सोलहवाँ लगा ही था कि विश्वामित्र जी ने आकर माँग कर दी कि राम को मेरे साथ भेज दो। भेज दिया उनको। वहाँ विश्वामित्र जी के साथ तपस्वी जीवन व्यतीत किया। तरह-तरहके शस्त्रज्ञान प्राप्त किये और राक्षसों को मारा। बड़े कष्ट का जीवन था क्योंकि विश्वामित्र जी बड़े कड़क आदमी थे। राम जी को नींद आ जाती थी, कभी उठने में देर हो जाती थी, तो विश्वामित्र जी यह नहीं करते थे, जैसा आजकल लोग करते हैं कि चलो बच्चों को रात में देर हो गई है थके आये हैं, सो जाने दो। तुरन्त पहुँच जाते थे उठाने। वे कहते 'उत्तिष्ठ नृपशार्दूल पूर्वा सन्ध्या प्रवर्तते।' राजाओं में सिंह की तरह राम! उठ जा। प्रातः काल की संध्या का समय हो रहा है। इसी प्रकार तपस्यापूर्वक राक्षसों को मारते हुये, जनकपुरी में पहुँचे। ब्याह हुआ। ब्याह होकर वापस आये। अभी सीता को गर्भ नहीं रहा था कि वनवास का समय आ गया। चौदह वर्ष का दीर्घकाल वनवास में गया, वहाँ भी कोई आराम नहीं मिला।

सीताहरण हुआ, युद्ध हुआ। सब कुछ होने के बाद वापस आये कि अब तो कुछ आराम से रहेंगे। राज्याभिषेक हो गया। सीता के गर्भ में बालक आया था, बस इतना ही समय मिला था, अभी बालक पैदा नहीं हुआ, गर्भ में आया था, और सीता का परित्याग करना पड़ा, जंगल भेजना पड़ा। अब विचार करके देखो, उन्हें कोई सुख का समय मिला क्या? उनसे अच्छे कर्म तो हमारे नहीं हो सकते।

अगर भगवान् कृष्ण के जीवन को देखो तो लगेगा राम जी कम से कम पैदा तो सुख आराम की अवस्था में हुऐ, इन्हें तो पैदा ही जेल में होना पड़ा। पैदा होते ही इन्हें भाग करके ऐसी जगह पहुँचाना पड़ा जहाँ ये मारे न जायें। साधारण से साधारण आदमी होता है तो छठे दिन तक उसे बाहर आँगन में नहीं ले जाते, इन्हें तो पैदा होते ही कितने मील जाना पड़ा! तो पैदा होने के समय में कोई सुख नहीं। बाद में कितने राक्षस आये, पूतना से लेकर निरन्तर राक्षसों का आना बना रहा। ग्यारह साल की उम्र में चल कर आये और अपने ही हाथों अपने सगे मामा को मारना पड़ा। यह कोई सुख की बात नहीं है। फिर जनेऊ हुआ। उज्जैन के पास पहुँच गये सांदीपनी आश्रम में पढ़ने के लिये। पढ़ लिखकर वापस आये तो जरासन्ध के आक्रमण होने लगे। कई बार आक्रमण होने पर सोचा कि यहां से भाग निकलना ही ठीक है। इसलिये रिफ्यूजी की तरह यहाँ से भागकर समुद्र किनारे द्वारका में जाकर रहना पड़ा। यहाँ के रहने वाले को वहाँ का मौसम पानी कैसे अनुकूल पड़ेगा? इसमें भी कहीं सुख नहीं। अन्ततोगत्वा अपने कबीले को अपने सामने ही मारना पड़ा। सारे यादव कुल का संहार हो गया, केवल एक बचा बाकी सब वहीं खत्म हो गये। अगर इसका शतांश दुःख भी तुमको होवे तो तुमसे सहन हो सकेगा? घर का लड़का मर जाता है तो लोग दो दो साल रोते हैं।

इस प्रकार भगवान् ने अपने चरित्र के द्वारा बतलाया कि भाई! ठीक

है, संसार वृक्ष में वेद रूप पत्ता धर्माधर्म रूप फूल को उत्पन्न करेगा, लेकिन फल तो जन्म-मरणादि एक दुःख ही होना है। अच्छे से अच्छा शुभकर्म जन्म देगा और जन्म होने के बाद मरणपर्यन्त दुःख न हो यह हो ही नहीं सकता। मृत्यु से चाहे जितना डरते रहो पर बच नहीं सकते। इसलिये शास्त्रकार कहते हैं—'मृत्योर्बिभेषि किं तात! भीतं मृत्युर्न मुंचति।' हे प्रिय, मृत्यु से तुम्हें डर लगता है, इस डर से कोई फायदा है क्या ? क्या डरे हुये को मृत्यु छोड़ देती है, जैसे भालू के बारे में प्रसिद्धि है कि भालू अगर पकड़ ले और तुम डर जाओ तो वह तुमको छोड़ देता है क्योंकि वह सोचता है कि डरे हुये को क्या मारना ! ऐसी प्रसिद्धि है। क्या इस प्रकार डर कर पड़ जाओगे तो मृत्यु तुम्हें छोड़ देगी ? ऐसा तो होना है नहीं। फिर डरने से क्या फायदा? कहोगे कि डर से फायदा हो या न हो डर तो लगता ही है। तो तुमको उपाय बतलाते हैं : मृत्यु किसको नहीं पकड़ती 'अजातं नैव गृह्णाति' जो पैदा नहीं होता उसे मृत्यु नहीं पकड़ती। इसलिये 'कुरु यत्नम् अजन्मनि' जन्म न हो इसके लिये प्रयत्न करो। मृत्यु से डर लगता है तो और कोई उपाय मृत्यु से बचने का नहीं।

जब संसार वृक्ष ऐसा है, तो उसके बारे में यह क्या भगवान् कह रहे हैं—'यस्तं वेद स वेदवित्।' जो इस संसार वृक्ष को जान लेगा वह 'वेदवित्' अर्थात् वेदार्थ, वेद के अर्थ को, वेद के तात्पर्य को जान लेगा। यह बात संगत लगती नहीं। क्योंकि वेद का तात्पर्य संसार तो है नहीं। यह संसार कैसा है? अनृतरूप है। अनृत का अर्थ है जो हो कुछ, दीखे कुछ और। ऋत उसे कहते हैं जो कभी न बदलने वाला नियम हो, सत्य कहते हैं जो कभी न बदलने वाली चीज हो। भगवान् शंकर का रूप बतलाते हुये तैत्तिरीय आरण्यक कहता है—'ऋतं सत्यं परं ब्रह्म' ऋत और सत्य परब्रह्म का रूप है। जो कभी नहीं बदलने वाले नियम हैं, वे भी ब्रह्म का ही रूप हैं और जो कभी नहीं बदलने वाला है वह ब्रह्म का रूप है ही। नियम सारे रहेंगे

ब्रह्म के औपाधिक रूप में और उसका स्वरूप रहेगा निरुपाधिक रूप में। वह ऋत सत्य परब्रह्म 'पुरुषं कृष्णपिंगलं'—पुरुष है। 'पूर्णत्वात्पुरुषः' ऋत और सत्य दोनों लेकर परमेश्वर पूर्ण है, उसमें कहीं कोई कमी नहीं। कृष्ण-पिंगल है। भगवान् शंकर का सारा शरीर तो गोरा है, पिंगल है और कण्ठ के अन्दर नीलिमा है। इसलिये उनको नीलकण्ठ कहते हैं। और वे 'ऊर्ध्वरेतम्'—नत्य निरन्तर उनकी तेजस्विता ऊपर की तरफ ही जाती है। हर बार जब हम लोग साँस लेते हैं तो सोऽहम् मन्त्र का जप होता ही है। उसके साथ ही हमारे सहस्रार में, सिर के अंदर जो शिव लिंग है उसमें से एक-एक बूँद अमृत का टपकता है। वह वहाँ से टपककर हमारे कण्ठ के रास्ते होते हुये ठीक जहाँ रीढ़ की हड्डी समाप्त होती है उस मूलाधार तक जाता है। इस प्रकार जीवन मिलता है, वह अमृत ही हमें जीवित रखता है। हर साँस में वह टपकता है। योगी लोग क्या करते हैं? जब वह कण्ठ में आता है तो लम्बिका के अभ्यास से उसे वापस ऊपर पहुँचा देते हैं। इस प्रकार उनका जो तेज है वह ऊर्ध्व हो जाता है। परन्तु जब व्यवहार करेंगे तो वह अवश्य नीचे आयेगा क्योंकि जब तक शक्ति नीचे न जाये तब तक काम नहीं हो सकता। भगवान् शंकर की यह विशेषता है कि वे कभी भी उसे नीचे नहीं आने देते।

इसी को बतलाने के लिये उनकी नीलकण्ठता है। उन्होंने अपने गले में हलाहल विष धारण किया; न उस विष को नीचे जाने दिया, न उस विष को बाहर निकलने दिया, वहीं कण्ठ में रोक लिया। भगवान् शंकराचार्य लिखते हैं

'सम्भ्रान्तायाः शिवायाः पतिविलयभिया सर्वलोकोपतापात्
संविग्नस्यापि विष्णोः सरभसमुभयोर्वारणप्रेरणाभ्याम्।।
मध्ये त्रैशंकवीयामनुभवति दशां यत्र हालाहलोष्मा
सोऽयं सर्वापदां नः शमयतु निचयं नीलकण्ठस्य कण्ठः।।'

जब समुद्रमन्थन से हलाहल निकला तो देव-दानव कोई उसे सह न सके अतः भगवान् के पास दौड़े गये कि 'आप ही इसे ग्रहण करें!' भगवान् तो कृपानिधान हैं, तुरंत तैयार हो गये लेकिन पार्वती जी को भय हो रहा था कि पियेंगे तो ये नहीं रहेंगे। वे तो कह रहीं थीं 'मत पीजिये, मत पीजिये।' वे भी भगवान् शंकर को अत्यन्त प्रिय हैं। और देवताओं की तरफ से सबसे आगे भगवान् विष्णु कह रहे थे 'जल्दी कीजिये, जल्दी कीजिये!' सोच रहे थे कहीं पार्वती की बातों में आकर इन्होंने नहीं पिया तो हम लोगों का काम गड़बड़ हो जायेगा! इसलिये कहा 'जल्दी कीजिये, जल्दी कीजिये।' विष्णु भी भगवान् शंकर को अत्यन्त प्रिय हैं। उन्होंने दोनों की बात रख ली। संस्कृत में पीने का मतलब होता है गले के नीचे ले जाना, गले के नीचे उतारना। मुँह में लेने को पीना नहीं कहते। इसीलिये जब निर्जला एकादशी इत्यादि का व्रत होता है तो दिन भर रात भर, चौबीस घण्टे पानी नहीं पीना। मुँह सूखे तो क्या करो? निर्जला एकादशी तो होती है पूरी गर्मी में, जेठ सुदी एकादशी। सहन नहीं होवे तो मुँह में पानी लेकर कुल्ला कर लो। उससे थोड़ी शांति हो जाती है। उससे निर्जला एकादशी का व्रत खण्डित नहीं होता। पीने का निषेध है, मुँह में लेने का निषेध नहीं। पार्वती जी कह रही थी 'पियो नहीं', तो गले से नीचे नहीं उतारा, उनकी भी बात रह गई। विष्णु भगवान् कह रहे थे 'लो, लो ग्रहण कर लो,' तो गले तक ले लिया, मुँह मे ले लिया, उनकी भी बात रह गई। ले भी लिया नहीं भी पिया, गले के अन्दर ही रख लिया। ठीक जैसे उस विष को गले में रखे हुये हैं वेसे ही हर बार जब अमृत का स्राव आता है तो पुनः ऊपर चला जाता है इसलिये वे उध्वरिता हैं।

'विरूपाक्षम्'—भगवान् शंकर की तीन आँखें हैं, सबकी दो आँखें हैं। दो आँखों वाले रूपाक्ष, वे हैं विरूपाक्ष, तीन आँखों वाले। 'विश्वरूपाय वै नमो नमः।' भगवान् शंकर को नमस्कार है। ऋत कहते हैं जो कभी नहीं

बदलने वाले नियम हैं। ऋत और सत्य इसको ही परमात्मा का रूप बतलाया। ऋत रहता है माया के अंश में, सत्य रहता है चेतनांश में। इसलिये कहा 'कृष्णपिंगलम्' । भगवती पार्वती काले रंग की हैं और भगवान् शंकर पिंगल रंग के हैं। हलांहल विष भी काले रंग का है। यह सारा माया का जो खेल है, यह है विष रूप ही। यही उनकी पुरुषता है, पूर्णता है कि ऋत और सत्य दोनों को सम्भाले हुये हैं।

उनसे अलग हुआ यह संसार अनृत हो जाता है। संसार अपने आप में अनृत रूप है, जड रूप है। शरीरादि जितने चेतन तुमको दीखते हैं वे तभी तक चेतन हैं जब तक उनके अन्दर भगवान् शंकर मौजूद हैं। जैसे ही इनमें से शिव का अंश निकला, केवल शव रह जाता है। जिस पिता के चरण छू कर तुम पुण्य कमाते हो उसी का शव छूकर तुम्हें स्नान करना पड़ता है। तेरह दिन तक तुमको अशुद्धि में रहना पड़ता है। यदि पिता के शरीर में स्वतः पुण्यरूपता होती तो शव होने के बाद भी रहती, नहीं रहती है इसलिये उसके अन्दर जो पवित्रता है उसका कारण उसमें शिव का होना है। सब जड चीज़ें शिव के सम्बन्ध से ही चेतन वाली होती हैं, उसका सम्बन्ध गया तो ये जड हैं और इसलिये दुःखात्मक हैं, दुःखरूप हैं।

संसार सुखदुःख-मोहात्मक है। कभी तो संसार के पदार्थ हमें सुख देते हैं, कभी दुःख देते हैं और कभी अत्यन्त व्यामोह में डाल देते हैं। हम कुछ भी निर्णय नहीं कर पाते। एक ही पदार्थ कभी सुख देता है, कभी दुःख देता है। वह पदार्थ हमें सुख ही दे ऐसा नहीं है। बच्चे को स्कूल में भर्ती कराया। तीन साल तक पढ़ने पर उसका रिपोर्ट-कार्ड आया, कार्ड पर लिखा हुआ है कि फर्स्ट आया। उसका कार्ड देखकर कितना सुख होता है। अब चौथे साल में वही कागज आया, खाली उसके 'फर्स्ट' की जगह लिखा हुआ था 'फेल'! अब देखते ही बनता है कि कितना दुःख होता है। वही लड़का है, वही कागज है। एक चीज हमेशा ही सुख देती हो या दुःख देती हो ऐसा

नहीं है, कभी सुख है कभी दुःख। भोजन करने बैठो; भोजन करने से पहले तुम्हें जो खीर पसन्द है वह परोसी; वह खीर सुख देती है। इसके बाद चार करछी खिचड़ी और छह फुलके खाने के बाद खीर परोसी तो वह खीर तुमको सुख देगी या दुःख? सोचोगे 'अरे! पहले क्यों नहीं लाये।' संसार के सब पदार्थ ऐसे हैं, कभी सुख देते हैं कभी दुःख देते हैं और कभी व्यामोह में डाल देते हैं। ऐसे चक्कर में डाल देते हैं कि जी घबराने लगता है, आदमी निर्णय ही नहीं कर पाता कि क्या करूँ। इस प्रकार वह हमेशा सुख दुःख मोह रूपी गुणों द्वारा व्यामोह में पड़ा रहता है। जब पदार्थ सुख देता है तब कह दिया जाता है कि सत्त्व गुण वाला है, जब दुःख देता है तब कह दिया जाता है कि रजोगुण वाला है, जब मोह पैदा कर देता है तब कहा जाता है तमोगुण वाला है। एक ही चीज अलग-अलग लोगों को सुख-दुःख देती है। बड़ी सुन्दर सौत आ गयी। सुन्दर सौत पति को सुखी करती है क्योंकि सुन्दर है। और पहली पत्नी को उसे देखते ही चिढ़ आती है कि 'यह मेरे सिर पर आकर बैठ गई!' एक ही औरत है, एक ही समय में एक को सुख दे रही है एक को दुःख दे रही है। और यदि कोई कुदृष्टि वाला पड़ोसी है तो—पहले वाली देखने में अच्छी नहीं थी तो उसे कोई झंझट नहीं थी; अब उसे भी लगता है मेरी तो वही रह गई। मैं दूसरी लाऊँ कि नहीं लाऊँ, क्या करूँ क्या करूँ! अब एक ही वस्तु अलग-अलग लोगों के मन में अलग-अलग भाव पैदा करती है। एक ही वस्तु एक ही आदमी में अलग-अलग समय में सुख-दुःख और व्यामोह उत्पन्न करती है। जो सुख की चीज दीखती है उसकी तरफ जाते हो, जो दुःख की चीज होती है उसकी तरफ नहीं जाते। इससे ही तुम्हारे कर्म बन जाते हैं।

ऐसा जो संसारवृक्ष उसे जानने से वेदार्थ कैसे जान लेंगे? भगवान् ने तो कह दिया 'जो संसार वृक्ष को जानता है उसने वेद को जान लिया।' परन्तु शंका होती है, यह संसार वृक्ष तो हम लोग देख ही रहे हैं इससे हम

वेदार्थवित् कैसे हो जाते हैं? भगवान् ने इसलिये 'ऊर्ध्वमूलम्' से शुरू किया। जिस बीज से जो पेड़ पैदा होता है उस वृक्ष के अन्दर वही रस आता है। जैसे कड़वे रस वाला नीम का बीज है, नीम के बीज से उत्पन्न जो नीम का पेड़ होगा वह कैसा होगा? कड़वा ही होगा। उसमें कहीं मिठास नहीं होगी। अब बढ़िया मीठा आम दशहरी या चौसा, जो मधुर रस वाला है, उसमें से जिस पेड़ को पैदा करोगे वह बिल्कुल मीठे आम को पैदा करेगा। इसी प्रकार सुपारी का बीज गाड़ोगे तो उसी प्रकार का कसैला फल देने वाला वृक्ष होगा। जो पेड़ जिस फल वाले बीज से पैदा होता है उस पेड़ के अन्दर वही रस हुआ करता है दूसरा नहीं होता है। इसी न्याय को भगवान् यहाँ बताना चाह रहे हैं। भगवान् ने कहा तुमको नीम का पेड़ तो दीख रहा है आम का पेड़ भी दीख रहा है सुपारी का पेड़ भी दीखता है, पेड़ सब एक जैसे ही दीखते हैं; सब पर पत्ते हैं, सब पर फूल फल हैं। परन्तु समझने की चीज है कि इस पेड़ में रस कौन सा है? वह दीखता नहीं है। जो इस पेड़ के रस को जानता है उसे तो उस पेड़ को जानने वाला कहा जायेगा और जो उस पेड़ को नहीं जानता कि इसमें असलियत क्या है, वह पेड़ को देखने पर भी नहीं देख रहा, नहीं जान रहा है। एक बार आगरा में एक बच्चे के गर्दन में ऐसा मरोड़ आ गया कि किसी तरह से ठीक नहीं हो रहा था। कई दिन तक दवाई करवाई मालिश की, आयुर्वेद, होम्योपैथी, ऐलोपैथी भी लिया लेकिन वह दर्द कम नहीं हुआ। एक दिन वह अपनी ऑफिस में बैठा था, कोई ग्राहक कुछ माल लेने आया था। यह बार-बार बेचारा ऐसे-वैसे कर रहा था। उसने पूछा 'भाई क्या बात है, क्या कोई तकलीफ है ?' उसने बताया कि गरदन में पन्द्रह दिन से बहुत दर्द हो रहा है। उस ग्राहक ने कहा 'इसमें क्या बात है। तुम्हारे ही बगीचे में तो ऐसा पेड़ लगा हुआ है जिसकी पत्तियाँ सूँघ लो, अभी ठीक हो जाओगे!' उसने कहा 'मुझे तो मालूम नहीं वह पेड़।' वह दूसरा व्यक्ति झट उठकर गया, दो चार पत्तियाँ

तोड़ी और पीस कर सुँघा दिया और दर्द ठीक हो गया। अपने ही बगीचे में लगा हुआ पेड़ दसियों साल से है लेकिन उसके गुण धर्म का पता नहीं, उसके रस का पता नहीं तो वह उसके किसी काम का नहीं। कहने को कह देते हैं कि हम पेड़ को जानते हैं पर जो उस पेड़ के रस को जानता है वही उसे जानता है। इसलिये भगवान् ने कहा केवल चिन्मात्र जो परब्रह्म परमात्मा आनन्दघन परमेश्वर, उसी से यह संसार वृक्ष उत्पन्न हुआ है इसलिये संसार वृक्ष का रस आनन्द ही आनन्द है। वृक्ष को देखने जाओ तो कहीं नीम कड़वा नहीं दीखता, आम बाहर से मीठा नजर नहीं आता। वैसे ही संसार वृक्ष को देख रहे हो अनादिकाल से पर तुमको इसके रस का पता नहीं। पता लगा तो जाना कि यह तो आनन्दघन है। भगवान् कह रहे हैं कि संसार वृक्ष को जानने वाला वेदज्ञ है तो उनका मतलब है संसार वृक्ष चिद्रस ही है इस बात को जानना इस संसार वृक्ष को जानना है। अब इसकी चिद्रसता को कैसे जानें ? इस पर आगे विचार करेंगे।

प्रवचन—८

संसार वृक्ष का वर्णन करते हुये भगवान् ने बतलाया कि परब्रह्म परमात्मा ही इस संसार वृक्ष का बीज है, वेद ही इसके पत्ते हैं, इस सारे वृक्ष के अन्दर एक मात्र परमानन्द रस ही भरा हुआ है। इस बात को जो जान लेता है वह वेद के वास्तविक तात्पर्य को जान लेता है क्योंकि सारे वेदों का वास्तविक तात्पर्य परमात्मा के प्रतिपादन में ही है। स्वयं वेद कहते हैं 'सर्वे वेदा यत् पदमामनन्ति' सारे वेद जिस पद को बताते हैं। पद का अर्थ होता है जिस पर सब की प्रतिष्ठा होती है, चीज खड़ी रहती है। हम लोगों के पैरों को भी पद इस लिये कहते हैं कि इस पर हम खड़े रहते हैं। इसी प्रकार सारा संसार जिसके आधार पर खड़ा है वह अधिष्ठान परब्रह्म परमात्मा ही पद शब्द से कहा जाता है। सारे वेद उस परब्रह्म परमात्मा के वास्तविक स्वरूप

को ही बतलाते हैं। यहाँ गीता में भी भगवान् ने कहा है–'वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः।' सारे वेदों में मेरा ही एक निष्कल स्वरूप ही जानने योग्य है। यद्यपि उस निष्कल रूप को बतलाने में आवश्यक होने से और भी कई चीजें बतलाई जाती हैं तथापि उन सबका उद्देश्य परमात्मा के प्रतिपादन में ही है। अतः जो उस पद को जान लेता है वही ब्रह्मवेत्ता है।

वेद कहता है उसे जान लेने के बाद और कुछ जानने को बचता नहीं। उपनिषद् में कथा आती है : शौनक महर्षि का बड़ा भारी मकान था, शाला थी। 'मकान बड़ा था' कहने का क्या प्रयोजन, उद्देश्य क्या? बड़े मकान का मतलब है निरन्तर जहाँ अतिथियों के गण आते ही रहते हैं। जहाँ अतिथियों का समूह आता ही रहे सत्कार पाता रहे वही मकान बड़ा है। हमारे यहाँ कहा जाता है कि जिसके घर के आँगन में अतिथियों के पैरों से आई हुई धूल का कीचड़ नहीं होता वह घर व्यर्थ हो जाता है। इतने अतिथि आयें कि घर-आँगन धूल कीचड़ से भर जाये। आजकल लोग एक अतिथि को भी देखने से घबराते हैं। तैत्तिरीय उपनिषद् कहती है 'अतिथिदेवो भव।' अतिथि को देवता समझो। प्रतिदिन जब तक किसी एक अतिथि को भोजन न करा दिया जाये तब तक भोजन नहीं खाना चाहिये। अतिथि का मतलब जो चिट्ठी लिख तुम्हारा रिश्तेदार आता है उसको नहीं समझ लेना! जो रास्ते से निकल रहा है, जिसके साथ तुम्हारा कोई सम्बन्ध नहीं है, उसे ही अतिथि कहते हैं। जो भ्रमण-शील है उसी को अतिथि कहा जाता है। ऋग्वेद कहता है कि जो व्यक्ति केवल अपने लिये भोजन पकाता है उसका भोजन व्यर्थ होता है–'मोघमन्नं विन्दते।' वह व्यक्ति अन्न को व्यर्थ ही पकाता है, उसका पकाया अन्न बेकार ही गया समझो जो श्रेष्ठ लोगों को 'नार्यमणं पुष्यति' खिलये बिना ही खा लेता है। आगे कहा 'नो सखायम्'। यह बात तो अभी चल रही है; अपना कोई मित्र या परिजन आ जाये, उसे खिलाये बिना ही जो खा लेता है उसे कोई अच्छा नहीं मानते। वैस अब

यह बड़े नगरों में होने लगा है कि भोजन के समय कोई मित्र या परिचित आ जाता है तो कहते हैं कि 'यह अखबार या मैगाज़ेन पड़ी है आप पढ़िये, हम भोजन करके आते हैं' ! पर ऐसा अधिक नहीं होता। इस प्रकार जो भोजन पकाता या खाता है वह व्यर्थ जाता है। आगे श्रुति ने बड़ी कड़वी बात कह दी–कि जो अपने श्रेष्ठ जनों को, मित्र रिश्तेदार सम्बन्धी सभी को भोजन नहीं कराता 'वध इत् स तस्य' वह अपने वध की तैयारी कर रहा है। बात बहुत कड़वी है पर विचार करके देखो; जिस घर के बारे में हरेक आने जाने वाले को और गाँव कस्बे के लोगों को विश्वास है कि इस घर में हम जब भी जायेंगे तो स्वागतपूर्वक बैठाया जायेगा, खिलाया जायेगा, तो उस बड़े घर के प्रति कभी द्वेष की भावना नहीं आती है। और जिसके बारे में पता है कि इसके पास जो कुछ भी है वह सिर्फ इसके ही लिये है इससे कभी किसी और का फायदा नहीं होना, तो अवश्यमेव उसके प्रति दुर्भावना आती है। शौनक महर्षि ऐसे ही महाशाल थे, बड़े मकान वाले थे उनके यहाँ अतिथि, अभ्यागत, श्रेष्ठ लोग और सखा मित्रादि आकर आदर पाते थे, भोजनादि करते थे। शौनक महर्षि ने अंगिरस महर्षि के पास श्रद्धा-भक्ति से जिज्ञासा की 'कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति?' भगवन् मैंने अध्ययन तो बहुत किया है। परन्तु मैंने सुना है कि ऐसी भी कोई चीज है जिसका अनुभव कर लेने से जो कुछ भी नहीं जाना है वह जाना हुआ हो जाता है। नहीं देखी हुई चीज भी देखी हुई की तरह प्रत्यक्ष हो जाती है। जिस चीज को हमने कभी नहीं सोचा वह भी सोची हुई हो जाती है। वह कौन सी चीज है, वह कौन सा तत्त्व है जिसका अनुभव कर लेने से जो कुछ है वह जान लिया जाता है?

महर्षि अंगिरस ने उत्तर दिया कि इस संसार में दो प्रकार के ज्ञान हैं। एक परमात्मा का साक्षात् ज्ञान, और एक परमात्मा की मायाशक्ति का ज्ञान है : 'द्वे विद्ये वेदितव्ये'। दो प्रकार के ज्ञान हैं। यह सारा संसार परमेश्वर

और उसकी शक्ति के द्वारा व्याप्त है। परमात्मा के सिवाय इस संसार में रस कुछ नहीं और जो कुछ प्रकट हो रहा है वह परमात्मा की शक्ति है। इन दोनों चीजों को जो भली प्रकार से समझ लेता है उसके लिये कुछ भी जानने लायक बच नहीं जाता। इसका मतलब यह नहीं समझ लेना कि परमात्मा और उसकी शक्ति अलग-अलग हैं। इसलिये अन्यत्र उपनिषद् में कहा 'एकधैवानु द्रष्टव्यम्'। 'एकधा' एक तरह से । जिस प्रकार यदि तुम कोई एक सिक्का लेते हो, तो उस सिक्के में एक तरफ लिखा होता है 'एक रुपया' और दूसरी तरफ तीन मुँह वाला शेर बना होता है। यद्यपि देखने में वे सर्वथा दो अलग-अलग दीखते हैं, इधर का सिक्का उधर नहीं दीखता, उधर का सिक्का इधर नहीं दीखता, तथपि यह नहीं समझ सकते कि वहाँ दो सिक्के हैं। एक ही चीज को दो प्रकार से देखने पर तुमको दो चीजें दीखती हैं। इसलिये श्रुति ने अन्यत्र स्पष्ट कर दिया—'नेह नानास्ति किञ्चन' अनेक चीजें यहाँ कुछ भी नहीं हैं, है तो एक ही। भगवान् सुरेश्वराचार्य कहते हैं 'वस्तुवृत्तं यतोऽद्वैतं, नानात्वं मोहहेतुतः'—अद्वितीयता, परमात्मा की अखण्डता तो वास्तविक है। जैसे कोई अगर पूछे 'सिक्का सचमुच में कितना है?' यदि वस्तु की दृष्टि से देखें तो यहाँ एक ही सिक्का है उसमें कोई टुकड़े नहीं हैं। किन्तु 'नानात्वं मोहहेतुतः' जब तक हमको ठीक साक्षात्कार नहीं हुआ तब तक हमको उसके दो पहलू दीखते हैं। दो तरफ से देखने पर दो चीज़ें दीखती हैं। उसी प्रकार जब हम अज्ञान की दृष्टि से देखते हैं तो इस संसार में हमें अनेकता दीखती है। विद्या की दृष्टि से देखते हैं तो एकता दीखती है। परन्तु वस्तुतः वहाँ पर सिवाय एक अद्वितीय के और कुछ नहीं है।

विद्या दृष्टि तब तक नहीं होती जब तक मन उसको एकाग्र होकर न देखे। अगर सिक्के के दो पहलू अलग-अलग देखते रहोगे तो कभी भी एकता का ज्ञान नहीं होगा। हमारा मन हमको इस विषय में हमेशा धोखा देता

रहेगा। यही कारण है कि अनेक प्रकार के अधिक ज्ञान प्राप्त करके हम सोचते हैं कि हमारा ज्ञान बढ़ जायेगा। लोग सोचते हैं, विशेषकर आजकल के इस विज्ञान की प्रगति को देख कर, कि हमारा ज्ञान बढ़ता जा रहा है। परन्तु विचारशील जानते हैं कि ज्ञान बढ़ नहीं रहा है, घट रहा है। ऐसे समझ लो : तुमको एक नगाड़ा चाहिये। नगाड़ा एक तरह का ढोल होता है जिसे मंदिर आदि में जोर से बजाते हैं। एक नगाड़े के लिये तुम्हें एक भैंसे का चमड़ा चाहिये, तब नगाड़ा बजेगा। अगर कोई सोचे कि हमारे पास इतना बड़ा अगर भैंसे का चमड़ा नहीं है तो हम दो सौ चूहों के चमड़ों को इकट्ठा कर जोड़ कर नगाड़ा बना लें, तो क्या नगाड़ा बन जायेगा? कोई कहे कि आधा नगाड़ा तो बन गया है, तीस चूहे और हो जायेंगे तो हमारा काम हो जायेगा! क्या आधा नगाड़ा बन गया? नहीं। कुछ भी नहीं बना। लगता जरूर है कि ये मिल कर बन जायेगा, लेकिन बनेगा नहीं। एक आदमी के यहाँ कोई गाँव का नौकर आया हुआ था। उसने नौकर को पचास रुपये का नोट दिया और कहा 'बाजार में जाकर दस-दस के पाँच नोट ले आ।' वह घूम फिर कर वापस आ गया, पूछा 'क्या हुआ ?' बोला 'मिले नहीं।' क्योंकि कोई चार दस-दस के नोट दे रहा है दो पांच-पांच के; कोई दस पाँच-पाँच के नोट दे रहा है; लेकिन पाँच दस-दस के नोट किसी के पास नहीं हैं। मालिक ने कहा 'भले आदमी! अपने को तो छोटे नोटों की जरूरत थी, इसमें क्या फर्क था? तू पाँच-पाँच के ही दसर नोट ले आता, दस-दस के पाँच नहीं थे तो भी कोई बात नहीं।' थोड़े दिनों बाद मालिक चिन्ता में बैठे हुये थे। नौकर ने पूछा 'आप बड़ी चिन्ता में बैठे हैं, क्या बात है?' उसने कहा 'बेटी जवान हो गई है उसके लिये वर ढूँढ रहे हैं पर मिल नहीं रहा है।' नौकर ने पूछा 'कैसा वर चाहिये?' उसने कहा 'बीस की बेटी है तो वर भी पच्चीस वर्ष का तो चाहिये ही। कम से कम मैट्रिक पास हो, पढ़ा लिखा हो, सुन्दर हो और कोई बीमारी भी न हो, स्वस्थ हो।' दो दिन

बाद आकर वह अपने मालिक को कहने लगा 'जी मैंने वर ढूँढ़ लिया।' मालिक बड़ा खुश होकर कहने लगा 'कहाँ ढूँढा?' तो वह बोला 'ले आऊँ' और ले आया दस साल के दो लड़के और पाँच साल का एक लड़का! एक लड़का देखने में बदसूरत था पर पढ़ने में तेज। दूसरा देखने में सुन्दर था। कहा 'जी आपने कहा था कि सुंदर भी हो और पढ़ा-लिखा भी हो। इनमें यह पढ़ने में तेज नहीं है पर देखने में सुन्दर है। दूसरा पढ़ने में तेज है पर सुन्दर नहीं है। पर ये दोनों बीमार रहते हैं, इसलिये यह पाँच साल वाला लाया हूँ जो देखने में जैसा भी हो पर हमेशा स्वस्थ रहता है, इसे कोई बीमारी नहीं है।' ठीक जैसे यहाँ पर तीन लड़कों से मिलकर लड़की का विवाह नहीं हो सकता उसी प्रकार छोटे-छोटे ज्ञानों को मिला कर कोई बड़ा ज्ञान नहीं प्राप्त हो सकता।

ज्ञान का लक्षण क्या है ? ठीक से समझना। 'तज्ज्ञानं प्रशमकरं यदिन्द्रियाणाम्'। ज्ञान का लक्षण है जो इन्द्रियों को संसार की तरफ जाने से रोके। जितना वर्तमानकाल में ज्ञान बढ़ा हुआ कहते हो, उससे क्या तुम्हारी विषयों की तरफ जाने की प्रवृत्ति बढ़ रही है कि घट रही है? तो मानना पड़ेगा, बढ़ रही है। पहले लोग कमाने जाते थे। राजस्थान में भी हम लोग देखते थे कि लोग काम करने कलकत्ता, बम्बई जाते। जाकर दस पन्द्रह साल तक काम करते, कुछ पूँजी एकत्र हो जाती तो आकर आराम से गाँव में बैठ जाते कहते 'भाई! अब खाने पीने को हो गया, आराम में बैठेंगे, भगवान् का भजन करेंगे।' उनके मन में था'मुझे इतना मिल गया, पर्याप्त है'। परन्तु अब बड़े से बड़े आदमी को देखो, किसी को यह अलम्-बुद्धि नहीं होती, पर्याप्त हो गया यह बुद्धि नहीं होती। यह कभी मन में नहीं आता कि अब और नहीं चाहिये। जो मनुष्य की आवश्यक चीजें हैं उनमें क्या कोई बहुत बड़ा फर्क है? साधारण आदमी चार फुलके खाता होगा तो बिड़ला जी चालीस खा लेते होंगे! और कितना खायेंगे? साधारण आदमी

दिन में एक बार गुड़ खा लेता होगा तो वह चार बार खा लेते होंगे! इसी प्रकार इन्द्र नगरी में भी चले जाओगे तो पदार्थ तो इसी जाति के रहने वाले हैं.। इसीलिये जगद्धर भट्ट कहते हैं–

'आभाति शक्रनगरी न गरीयसी मे
प्रीतिं च सिंचति न कांचन कांचनाद्रिः।
जाने परं हर शरण्यमरण्यमेव
यत्र त्वदङ्घ्रिनलिनार्चननिर्वृतिः स्यात्।।'

शक्रनगरी इंद्रपुरी भी मुझे अपनी तरफ नहीं खींचती। कांचन, सोने का पहाड़, मेरु पर्वत को सोने का पहाड़ कहा जाता है, वह भी मेरे मन में कोई प्रीति उत्पन्न नहीं करता। क्यों? क्योंकि मैं जानता हूँ कि भगवान् शंकर की शरण लेने के लिये अन्त में अरण्य ही सबसे अच्छी जगह है। क्योंकि वहाँ जाकर आपके चरणकमलों का चिन्तन करते हुये, बाकी सब चीजों से हटा जा सकता है। और जब आपके चरणों का आश्रय मिल जाता है तो फिर इस संसार में असम्भव नाम की कोई चीज रहती नहीं।

इसीलिये कहा कि परमेश्वर को जान लें तो सर्वज्ञ हो जाते हैं। जब हमको किसी चीज के कारण का ज्ञान हो जाता है, तो फिर कार्य में कोई चीज ऐसी नहीं रहती जो मनुष्य को पता न लगे। मद्रास के पास एक बस्ती थी ''महिलापुर'' अब तो वह मद्रास का एक मोहल्ला है। वहाँ एक अत्यन्त धनी वणिक् रहता था। वह भगवान् शंकर का बड़ा भक्त था। उसकी एक ही लड़की हुई और कोई दूसरी संतान थी नहीं। लड़की बड़ी सुन्दर थी। जब लड़की कुछ बड़ी होने लगी तब पिता ने निर्णय किया कि ज्ञान सम्बन्ध से उसे ब्याहेगा। उस समय भगवान् शंकर के प्रसिद्ध भक्त थे सम्बन्ध। लड़की दस-बारह साल की हुई। पुराना जमाना था। आठ वर्ष की उम्र होते ही लोग विवाह की सोचने लगते थे। इधर-उधर से उसकी सुन्दरता जान कर बहुत से लोग आ कर जिक्र करने लगे 'भाई! लड़की का क्या सोचा?'

जैसा कि गाँवों और कस्बों में होता है कि अमुक अच्छा लड़का है उसके बारे में सोच लो। उसका एक ही जबाब होता था 'मैंने तो इसे सम्बन्ध को देने का सोचा है।' यह ही उनका निश्चय था। सम्बन्ध बहुत छोटी आयु लेकर इस संसार में आये थे, कुल सोलह साल की उम्र लेकर आये थे। विवाह करने का उनका विचार था ही नहीं। पर उस वणिक् को पता नहीं था। अतः असने यह निश्चय कर लिया। एक दिन वह लड़की गई बाग में फूल चुनने के लिये। सम्भवतः इस बात को जानने के कारण कि इसके पिता का निश्चय व्यर्थ है, सम्बन्ध को शादी तो करनी नहीं, एक सर्प आया और उसने उस लड़की को डस लिया। सब तरह का इलाज किया पर वह लड़की मर गई। परन्तु उस वणिक् का निश्चय वैसा ही रहा, उसने अपनी लड़की की अन्त्येष्टि कर दी, जला दिया और जलाने के बाद जो हड्डियाँ और भस्म थी उन्हें एकत्र कर एक घड़े में रखा। और उस लड़की के सोने के कमरे में रख दिया। नियम से जो लड़की को सबसे पसन्द के खाने का सामान था वह बनाकर रोज सामने रख देता था। ऐसे कुछ महीने बीत गये। तीर्थ यात्रा करते हुये उधर से सम्बन्ध के आने का मौका हुआ। इनको भी खबर मिली। बहुत बड़े भक्त थे तो चारों ओर खबर फैल जाती थी। जो आकर उस वणिक् को खबर देता था कि 'सम्बन्ध इतने पास आ गये' उसे वह झट पुरस्कार देता था, इनाम देता था। अन्त में जब वे गाँव के पास आ गये तब वह स्वयं वहाँ पहुँचा। लोगों ने परिचय कराया तो इसने स्वयं सारी बात कह दी कि ऐसा-ऐसा संकल्प था और इर प्रकार की घटना हो गई; वह मर गई परन्तु जो संकल्प कर लिया है वह तो पूरा करना ही है; 'वह भस्म की ढेरी और मेरी ढेर सारी सम्पत्ति आप ले लीजिये।'

उसकी सद्भावना देखकर सम्बन्ध के मन में आया कि इसकी सद्भावना का आदर होना चाहिये। वहीं महिलापुर में कपालीश्वर का मन्दिर है। उन्होंने कहा 'मैं मन्दिर जाता हूँ, तुम वह भस्मावशेष लेकर मन्दिर में

आओ।' वहाँ जाकर उस घड़े को मन्दिर के आँगन में रख दिया और मन्दिर में भगवान् शंकर की प्रार्थना करने लगे कि यदि संसार में शिवभक्तों को खिलाना जीवन का सार है, यदि भगवान् शंकर के मंदिरों के उत्सवों का दर्शन करना जीवन का सार है मेरा यह कहना कि ये दोनों चीजें जीवन का सार है ठीक है, तो वह लड़की जीवित हो जानी चाहिये। इसके साथ ही उन्होंने यह कहा कि संसार में नास्तिक जैन बौद्ध आदि हैं, वे इस घटना को असम्भव मानेंगे, वे भी इस चीज को अच्छी तरह से देख लें। क्योंकि जो संसार के कारण परमात्मा और उसकी अद्‌भुत शक्ति को नहीं जानते उनको लगेगा कि यह सारे संसार के नियमों से विपरीत कार्य हो रहा है, असम्भव है। वे भी इसे देख लें। बहुत भीड़ इकट्ठी हो गई थी वहाँ। नास्तिक आदि लोगों को कहाँ इस पर विश्वास होना था! जैसे ही उन्होंने कहा 'नास्तिक लोग भी देख लें' तभी उस घड़े में से चूड़ी पहने हुये हाथ निकला जैसे कमल खिल आता है। वह जो घड़ा था उसके टुकड़े होकर गिरे और लड़की बाहर निकल आई!! सब लोग आश्चर्य-चकित हो गये। जब वणिक् ने विवाह की बात कही तो उन्होंने कहा 'यह बात रहने दो। यह तो इसकी भक्ति थी इसलिये इसको पुनर्जन्म देना था वह दे दिया।'

विचार करो ; परमात्मा की ऐसी अद्‌भुत शक्ति है कि महीनों बीत जाने पर भी केवल भस्मावशेष रह जाने पर भी पुनः वैसा का वैसा उत्पन्न हो जाता है। जो परमात्मा और उसकी शक्ति के सारे स्वरूप को जान लेता है वह फिर उनके चरणकमलों को छोड़कर और किसी चीज को नहीं देखता। तभी कहा जा सकता है कि इसने वेद के अर्थ को, वेद के तात्पर्य को भली प्रकार से समझ लिया है, जिसे यहाँ कहा 'यस्तं वेद स वेदवित्।'

उस वृक्ष का ही वर्णन दूसरे श्लोक में करते हैं :

अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखाः
गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः।

अधश्च मूलान्यनुसन्ततानि
कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके।।२।।

उस संसार वृक्ष की शाखाएँ ऊपर-नीचे सब तरफ फैली हुई हैं। पहले 'अधःशाखम्' कह आये हैं अतः शाखायें ऊर्ध्व जो मूल उससे तो नीचे ही हैं लेकिन आपस में कोई नीची है कोई ऊँची। अच्छे आचरण वाले ऊँची शाखा पर पहुँच जाते हैं, देवता बन जाते हैं, बुरे आचरण वाले नीची शाखा पर पहुँच जाते हैं, जानवर राक्षसादि हो जाते हैं। लेकिन सभी शाखायें 'गुणप्रवृद्धा' पुष्ट होती हैं गुणों से, सत्त्व-रज-तम से। ये गुण ही महाभूतों को शरीर-इंद्रिय-विषयों के आकार का बनाते हैं। शाखा के आगे नोक पर जो अंकुर जैसा निकलता है वह पल्लव है। संसार के विषय ही उन पल्लवों की जगह समझने चाहिये। अश्वत्थ वृक्ष के कुछ मूल, जड़ें, डालियों से निकल कर ज़मीन तक आते हैं। उन्हें कहा 'अनुसन्ततानि मूलानि अधश्च'। भोगजन्य जो राग-द्वेष आदि की वासनायें वे ही ये अवान्तर मूल हैं क्योंकि आगे प्रवृत्ति के प्रति ये कारण बनती हैं। सद्वासना ऊपर की ओर भी प्रवृत्ति करा सकती है इसलिये 'अधश्च' इस च से ऊर्ध्व भी समझ लेना। इन अवांतर मूलों का ही परिचय कराया 'कर्मानुबन्धीनि'—इन मूलों का अनुबन्ध क्या है ? कर्म। अनुबंध का मतलब है बाद में उत्पन्न होने वाला। रागादि मूल आ गये तो उन के बाद क्या होगा? कर्म होगा, प्रवृत्ति होगी। यह सब समझ कहाँ आ सकता है ? तो कहा 'मनुष्यलोके'। मनुष्य का मतलब पहले बता आये हैं—मनु का अनुसरण करने वाला। मन्वादि महर्षियों के बताये ढंग से जो चलेगा, विचार करेगा उसे ही यह संसार ऐसा समझ आयेगा कि परमात्मा इसके मूल हैं वेद इसकी रक्षा करने वाले पत्ते हैं इत्यादि। शास्त्रानुसारी विचार न करो तो कभी इस निर्णय पर नहीं पहुँचोगे। इस बात को अगले श्लोक में और स्पष्ट करेंगे।

प्रवचन—६

इस संसार को हम जैसा देखते हैं और जैसा समझते हैं, जब इसको पास से जाकर देखते हैं, इसका विश्लेषण करते हैं तो वैसा यह नहीं मिलता है। संसार के सब पदार्थों का यही स्वरूप है, दीखते कुछ हैं, निकलते कुछ और हैं। अगर अपने शरीर को ही लो तो शरीर के अन्दर कोई बड़ी सुन्दरता नहीं है। भगवान् के पास किसी बात की कमी नहीं थी। अगर चाहते तो हमारे स्नायुमण्डल को सोने के तारों से बना देते। हमारी रक्त-धमनियों को चाँदी का बना देते। हमारी आँखों को हीरे की बना देते। सोना चाँदी हीरे इत्यादि तो भगवान् ने पृथ्वी के अन्दर दबा कर रखे, छिपा कर रखे, और हमारा शरीर, जिसे सबसे अच्छी कृति कहा है, पहले भी एक दिन बतलाया था देवता भी इसमें बैठ कर प्रसन्न होते हैं, उस मुनष्य शरीर में उन्होंने अत्यन्त घृणित आँतड़ियाँ बनाई, नसें बनाई। यह ऐसा बनाया कि इसके अन्दर कितना भी ध्यान देकर देखो कहीं कोई चीज सुन्दर नहीं मिलेगी। इसलिये किया कि इसको देख कर मनुष्य के हृदय में वैराग्य हो। इसके आकर्षण और आसक्ति में फँसे नहीं। और जो आकर्षण और आसक्ति की चीजें हैं—सोना, चाँदी, हीरा, माणिक, वे उन्होंने दबाकर रखी जिससे न इनको देखेगा और न ही मुग्ध होगा। परन्तु भगवान् ने देखा कि यदि वैसा ही मांस स्नायु का लोथड़ा रहेगा तो इसको हर समय दण्डी महात्मा बनकर घूमना पड़ेगा। ऊपर से कौवे इस पर झपटेंगे, गिद्ध आयेंगे, नीचे से कुत्ते और सियार काटने आयेंगे। इसलिये दया कर उन्होंने एक मिलीमीटर की छोटी सी चमड़ी ऊपर से चढ़ा दी जिससे इसे दूसरे पशु, पक्षी तुरन्त आक्रमण करके दुःखी न करें। बस इतना हल्का सा चमड़ा चढ़ा दिया, परन्तु मनुष्य उस हल्के चमड़े को ही देखता है, उसके अन्दर छिपी हुई चीज को नहीं देखता। उधर पृथ्वी के अन्दर छेद करके घुस-घुसकर वहाँ से सोना, चाँदी, हीरा जो भगवान् ने सोचा कि छिपा रहेगा तो इसको परेशान नहीं

करेगा, उसे निकालने के लिये निरन्तर प्रयत्न करता है। इसलिये कहते हैं—

न रूपमस्येह तथोपलभ्यते
नान्तो न चादिर्न च सम्प्रतिष्ठा।
अश्वत्थमेनं सुविरूढमूलम्
असंगशस्त्रेण दृढेन छित्वा।।३।।

'अस्य रूपम् इह तथा न उपलभ्यते'। जैसा इसका रूप है वैसा सीधे-सीधे दीखता नहीं, समझ नहीं आता। हम सोचते हैं मनुष्य शरीर सुन्दर हैं। पास जाकर जरा चमड़े को खोलकर देखो तो वहाँ की सुन्दरता नजर नहीं आयेगी। इसी प्रकार चीजें हमको स्थिर दीखती हैं। परन्तु प्रत्येक पदार्थ जीर्ण ही होता रहता है। थोड़ा-थोड़ा जीर्ण होता है अतः हम लोग नहीं समझ पाते हैं कि जीर्ण हो रहा है। जैसा पदार्थों के बारे में वैसा ही व्यवस्थाओं के बारे में है। हमारी मर्यादाएँ हमारी सामाजिक, नैतिक अर्हाएँ एक दिन में सर्वथा खराब हो गयी हों ऐसा नहीं है। हर बार जब थोड़ा खराब होता है तो हम मान लेते हैं कि 'इतना तो चलता ही है'। जब धर्म की दृष्टि से सावधान किया जाता है कि 'अरे यह बड़े नुकसान की चीज है' तो आदमी कहता है 'इतने से तो क्या होग!' धीरे-धीरे व्यवस्था घटते-घटते जब समाप्ति के पास आने लगती है तब आदमी कहता है, यह क्या हो गया!! चीजों को तो निरन्तर बनाये रखो तभी रहती हैं। जिस प्रकार मकान की निरन्तर सफेदी करते रहो, थोड़ी बहुत मरम्मत कराते रहो तब तो वह लम्बे समय तक सुरक्षित रहेगा। यदि दो-चार साल तक कोई उसमें नहीं रहेगा तो धीरे-धीरे वह मकान खण्डहर हो जायेगा। अगर अपने बगीचे की घास पर ही चार महीने के लिये ध्यान मत दो, चार महीने बाद देखोगे कि जो घास लगी हुई थी वह सब जंगल हो गया है। इसी प्रकार सामाजिक व्यवस्थाएँ, नैतिक मूल्य, धार्मिक विचार निरन्तर ध्यान देकर रखे जाते हैं तब तो सुरक्षित

रहते हैं और यदि मान लिया जाता है कि 'चलो इनको अपने आप होने दो' तो थोड़े समय में समाप्त होने लग जाते हैं। चाहे संसार के पदार्थ हों, व्यवस्थाएँ हों, सब दीखती बड़ी बढ़िया हैं। लगता है सब बड़ा अच्छा चल रहा है। भारत धार्मिक देश है। हमारे यहाँ अधार्मिकता कैसे आयेगी ? इसलिये उधर से ध्यान हटा लो। तो शीघ्र सब समाप्त मिलेगा। सन् सत्ताईस, अट्ठाईस में यहाँ अमेरिका का एक व्यक्ति आया था, वहाँ का राजनेता था तो गाँधी जी से मिला। अमेरिका के अन्दर प्रथम विश्वमहायुद्ध के बाद बीस-इक्कीस में शराब-बन्दी हुई थी। शराब बन्द होने के बाद लोगों ने चोरी छिपे पीना शुरू किया। राज्य ने काफी प्रयत्न किया परन्तु सफलता नहीं मिली। अन्त में उनको अपने संविधान का परिवर्तन करना पड़ा और उन्होंने फिर से शराब के मामले में ढील दे दी, शराबबन्दी को खत्म किया गया। उसने गाँधी जी से प्रश्न किया, 'अमेरिका के अन्दर पूरा प्रयत्न करके हम शराबबन्दी में असफल हो गये हैं। आप अभी भी शराबबन्दी की बात करते हैं तो क्या भारत वर्ष में आप सफल जो जायेंगे ?' गाँधीजी ने कहा 'हाँ।' उसने पूछा 'कैसे?' उन्होंने कहा—'तुम्हारे देश में शराब पीना समाज द्वारा स्वीकृत है। इसलिये बाप बेटे के साथ बैठकर पीता है, पति पत्नी के साथ बैठकर पीता है। समाज की दृष्टि में वह हेय नहीं है। इसलिये कानून बनाने पर भी ये काम छिपकर हो जाते हैं। परन्तु हमारे देश में शराब पीने वाला छिपकर पीता है। कोई देख न ले इसका भय रहता है। देख लिया जाता है तो समाज में बहिष्कृत कर दिया जाता है। इसलिये हमारे यहाँ सफल हो जायेगी, तुम्हारे यहाँ नहीं हो सकती।' यह सन् अट्ठाईस की स्थिति थी। अब आपका अट्ठानवे आ रहा है बहुत ज्यादा समय नहीं हुआ है। सब लोगों ने यह मान लिया है कि इससे क्या फर्क पड़ता है। हमारे संविधान में लिखा हुआ है, 'राज्य शराब-बन्दी के लिये प्रयत्न करेगा।' परन्तु धीरे-धीरे धन के लोभ से छूट देते चले गये। अब स्थिति है कि घरों में बाप और

बेटा साथ बैठकर पीते हैं, पति और पत्नी साथ बैठकर पीते हैं। अब यदि चाहो कि हम इसको बन्द कर देंगे तो करीब-करीब असम्भव सा है क्योंकि समाज में यह मान्य हो गया है। यह स्वतंत्रता की बड़ी देन है! और यह तब जब प्रतिज्ञा थी कि शराब-बन्दी के लिये प्रयत्न करेंगे। तो कोई भी व्यवस्था या वस्तु, निरंतर जब तक उसके लिये प्रयत्नशील रहोगे तब तक रहेगी और जैसे ही प्रयत्न को छोड़ोगे वह चीज बिगड़ जायेगी।

भगवान् कहते हैं—न कोई संसार था, न ठीक-ठीक इसका आदि ही है, न ठीक-ठीक अन्त ही है और न यह कहीं प्रतिष्ठित ही है। 'नान्तो न चादिः न च सम्प्रतिष्ठा।' ये तीनों हमें लगते हैं कि हैं लेकिन विचार करके देखें तो इन सबका कोई भी आधार नहीं मिलता। फिर भी 'अश्वत्थमेनं सुविरूढमूलम्' हमारी अपनी ही कामनाओं के कारण यह सुविरूढमूल होता रहता है। अगर पुराने पेड़ की जड़ देखोगे तो जड़ें आपस में फँस कर एक दूसरे से जटिल हो जाती हैं, जिनको निकालना असम्भव हो जाता है। इसलिये पेड़ के जानकार जानते हैं कि अन्ततोगत्वा यदि तुम चाहो कि वह पेड़ सर्वथा खत्म हो जाये तो या तो जलाना पड़ता है या काटकर खत्म करना पड़ता है। यदि चाहो कि उन जड़ों को खोल कर निकाल लो तो असम्भव है। इसी प्रकार इस संसार के अन्दर विषय-वासनाओं की इतनी जटिलता हो गई है, एक दूसरे से इतनी कस गई हैं कि इनको खोलना असम्भव सा लगता है। अतः भगवान् कहते हैं इसको खोलने के लिये प्रयत्न से काम नहीं होगा—'असंगशस्त्रेण दृढेन छित्वा'—इसको तो आसक्ति-रहितता, संग की रहितता रूप जो फर्सा है, उसके द्वारा काटना ही पड़ेगा।

असंगता का क्या अर्थ है ? 'नाभिनन्दति नैष्कर्म्यं न कर्मस्वनुषज्जते। सुशमो यः परित्यागी सोऽसंसक्त इति स्मृतः।।' असंग पुरुष कौन है ? काम नहीं करने में प्रसन्न होता है वह असंग हो ऐसा नहीं। जिस समय जो कर्म हमारे सामने आ गया है मैं इसको न करूँ तो बड़ा अच्छा हो—ऐसी भावना

कभी न हो। यह भी आसक्ति है। मैं क्यों करूँ? कर्म प्राप्त हुआ है इसलिये करना है। पहले यही दृष्टि हम लोगों की रहती थी। जो-जो अपना कर्तव्य कर्म हो उस कार्य कर्म को करना है, प्राप्त हो गया इसलिये करना है। छोटा भाई है, पढ़ने लिखने में कमजोर है, बुद्धि का विकास नहीं है। छोटा भाई है इसलिये इसकी पालना करनी ही है। आसक्ति वाला कहता है, 'मैं इसकी पालना क्यों करूँ ?' आसक्ति बढ़ने से आज विचारधारा यहाँ तक हो गई कि दिल्ली में जब ब्याह का समय आता है तो लोग देखते हैं ऐसा लड़का मिले जिसके कोई भाई बहन न हो; बहनें होंगी तो ब्याह में खर्चा करना पड़ जायेगा, भाई होगा तो उसका पोषण करना होगा। अकेला लड़का हो तो ठीक है। हमारे यहाँ शास्त्रकार कहते हैं कि एक बेटा जिसके होता है वह निपूत ही है, उसके कोई बेटा है ही नहीं। हमारा एक रसोईया है कलकत्ते में, वह जब परोसता है तब अगर कोई कहता है कि 'एक जलेबी देना' या 'एक रोटी देना', तो वह कहता है 'एक तो मैं गाली भी नहीं देता, कम से कम दो जरूर दूँगा!' कारण क्या है? भगवान् ने अनेक चीजें हम लोगों को दे दी हैं। क्यों ? अगर किसी कारण से एक में गड़बड़ी हो जाये तो दूसरा सम्हालने वाला तो है। एक आँख खराब हो जाये तो दूसरी से काम चले, एक कान खराब हो जाये तो दूसरे से काम चले, एक किडनी खराब हो जाये तो दूसरे से काम चले, एक फेफड़ा खराब हो जाये तो दूसरे से काम चले। यदि घर में एक ही भाई है और कुछ भी हो गया तो क्या होगा? परन्तु यह नहीं सोचते। यह सोचते हैं कि अभी हमको उसके लिये कुछ करना न पड़े यह अच्छा है। असंग पुरुष के लिये कहा 'नाभिनंदति नैष्कर्म्यम्' यह काम मुझे न करना पड़े, इसमें उसको कभी प्रसन्नता का अनुभव नहीं होता। अर्थात् प्राप्त कर्म को भली प्रकार से करता है। तो फिर हमेशा करता ही रहता है? ऐसा भी नहीं । 'सुशमः' अपनी तरफ से किसी काम को ढूँढने नहीं जाता। 'मुझे अवश्य करना है, मैं ही करूँ' ऐसा भाव नहीं है। अगर

कर्म प्राप्त हो गया तो 'नहीं करूँ' यह नहीं और कर्म प्राप्त नहीं है तो 'जरूर कुछ करने को मिले, करना ही है, ढूँढ कर अपने सिर काम लेना है' ऐसी बात नहीं। बड़े शहरों में आजकल ये दोनों चीजें होती हैं : घर में सास बीमार पड़ी है उसके लिये तो नौकर को कह दिया गया कि तुम देखभाल करना और बहू जी कहाँ गई हैं? अस्पताल के अन्दर सेवा करने के लिये गई हुई हैं! मरीजों की सेवा करने के लिये गई हुई हैं। उस कर्म को ढूँढना है जहाँ पर चार आदमी फोटो लेंगे, अखबार में निकालेंगे। उस कर्म को करने में बोझ मानना है जिसको किसी समाज के अन्दर प्रकाशन नहीं मिलेगा। ये दोनों भावनायें नहीं करना असंगता है। कर्म करने में भी उतनी ही प्रसन्नता है, नहीं करने में भी उतनी ही प्रसन्नता है। प्राप्त कर्म को करने में जितनी प्रसन्नता, कर्म प्राप्त न होने पर शान्ति में भी उतनी ही प्रसन्नता। ऐसा जो परित्यागी है, संग का परित्याग करने वाला है, उसी को असक्त कहा जाता है। अन्यथा आदमी रोज नई-नई परिस्थितियों को ढूँढता है। थोड़ी सफलता मिलते ही आशाओं का अन्त नहीं और जैसे ही कोई आपत्ति आई वैसे ही सोचता है अब तो सब गढ्ढ़े में गिर गया! इसलिये ऐसा व्यक्ति कभी भी समता को प्राप्त नहीं करता। समता को प्राप्त वही करता है जो जानता है कि एक सफलता मिलने पर अब सफलता ही मिलती रहेगी ऐसा इस संसार का रूप नहीं है। एक हानि होने पर हानि ही होती रहेगी ऐसा भी इस संसार का रूप नहीं है।

एक मदारी था। उसके पास पाँच बन्दर थे और पाँच बकरियाँ थीं। गाँव से गाँव में जाता था। डमरू बजाकर लोगों को इकट्ठा करता था। उन बंदरों का नाच दिखलाता था, बकरियों का खेल दिखलाता था। उससे जो कुछ आमदनी होती थी उससे अपना गुजारा करता था। एक बार एक गाँव में पहुँचा। लेटा हुआ था, तब तर्क वहाँ पर एक महात्मा आ गये। वे भी गर्मी से पीडित थे तो वहीं छाया में बैठ गये। कुँए से पानी निकाला,

पानी पिया, हाथ-मुँह धोया और शान्त होकर बैठ गये। तब तक मदारी उठा, उसने सोचा आगे चलें। महात्मा ने उससे पूछा 'भाई ये बन्दर और बकरियाँ तुम्हारे साथ क्यों हैं?' बोला 'मैं मदारी हूँ खेल दिखलाता हूँ।' महात्मा ने कहा, 'अच्छा, मुझे भी खेल दिखला।' मदारी ने सोचा—बाबा जी से हमको क्या मिलना है। उसने कहा 'नहीं-नहीं यहाँ खेल नहीं दिखलाऊँगा।' महात्मा ने कहा 'अरे मेरी इच्छा है जरा दिखा तो दे।' मदारी सोचने लगा महात्मा हैं, क्या पता इनके पास कुछ हो जड़ी-बूटी इत्यादि, समय पर दे देंगे। तो आधे मन से उसने कुछ खेल दिखाया। महात्मा को बड़ा आनन्द आया।

महात्मा ने कहा 'तुमने बहुत बढ़िया खेल दिखाया। अब मैं देख तेरे को कुछ देता हूँ।' उसने सोचा कुछ जड़ी-बूटी देंगे। उन्होंने कहा 'तू देख बैठ कर, आँख बन्द कर, मैं तेरे को कुछ दूँगा।' उसने बैठ कर आँखें बन्द कर लीं। उन्होंने कहा 'जब तक मैं कहूँ नहीं तब तक खोलना नहीं।' दस-बीस मिनट बैठा रहा। जब कुछ नहीं हुआ तो उसके मन में सन्देह हुआ—क्या बात है? धीरे से आँख खोलकर देखा तो वहाँ महात्मा नहीं दीखे। पूरी आँख खोलकर चारों तरफ देखा तो महात्मा कहीं नहीं थे। उसने सोचा देखो महात्मा तो मेरे को धोखा देकर चले गये। अब उठकर देखने लगा तो डमरू भी नहीं। कहा लो मेरा डमरू भी ले गये! तब तक देखा तो बन्दर भी नहीं बकरियाँ भी नहीं। उसने कहा 'अरे, इसने तो खेल दिखाने की कला सीख ली और खुद ही लेकर चला गया। अच्छा इसको खेल दिखाया, मेरी कमाई का साधन भी गया।' दुःखी होकर वहाँ से चलने लगा और दो चार पैर चला तो उधर से लोग जय-जयकार करते हुए आये और एक हाथी भी आया। उस हाथी ने उसके गले में माला डाल दी। जो लोग थे सारे जय-जयकार करते हुए कहने लगे 'आप हमारे राजा हो गये, आप हमारे राजा हो गये।' मदारी ने कहा 'राजा हो गये क्या मतलब?' तो अपने-अपने

देश की चाल है। जैसे भारत में ही पहले राजा का लड़का राजा होता था। अब निर्णय कर लिया गया कि पेट से पैदा नहीं होगा, पेटी से पैदा होगा! लकड़ी की पेटी में से जो निकल आये वह राजा है। उस देश की चाल थी कि जब वहाँ राजा मर जाता था तो राजा के हाथी को एक माला दे देते थे और हाथी जाकर जिसके गले में माला डाल दे वह राजा हो जाता था। मदारी बड़ा प्रसन्न हुआ। कमाई का साधन गया तो उसे राज्य मिल गया, बढ़िया रानियाँ मिल गयी, फौज मिल गई, सम्पत्ति मिल गई। ऐसा भोग-भोगने में लगा कि कभी सोचा ही नहीं कि ये सब मुझे क्यों मिला? कहाँ मदारी का जीवन था और कहाँ चारों तरफ के भोग उसको सुलभ हो गये। ऐश-आराम के अन्दर मस्ती से लगा हुआ था। समय बीत गया। अब खबर आई कि किसी पड़ोसी राजा ने आक्रमण किया है, सब सामन्तों ने आकर कहा कि राज्य पर आक्रमण हुआ है। अब तो राज्य की रक्षा के लिये लड़ने चलना पड़ेगा। उसने पूछा, 'मुझे भी चलना पड़ेगा?' बोले 'बिल्कुल। राजा आगे चलेगा तभी तो हम लोग सब चलेंगे।' बेचारा दुःखी तो हो गया कि पता नहीं वहाँ लड़ाई में क्या हो, क्या न हो। फिर भी उपाय नहीं था। हाथी पर बैठकर चला। चलते-चलते उसी रास्ते से निकला। वही पेड़ वहाँ पर था, वही कुँआ था। उसे देखकर स्मृति आई, याद आया—अरे यहीं बंदर-बकरियाँ खो दी, राजा बना। सोच ही रहा था कि देखता है वे महात्मा भी वहाँ बैठे हुए हैं! अब उसे ख्याल आया—'अरे इस महात्मा ने उस समय मेरे को ध्यान करवाया तो शायद इसी के कारण मुझे ये सब मिला। अब युद्ध में जा रहा हूँ तो महात्मा से आशीर्वाद ले लूँ तो बड़ा अच्छा है, काम कर जायेगा।' अब तक याद नहीं आया था। हाथी बैठाया, उतर कर महात्मा के पास गया। महात्मा ने कहा, 'अरे मदारी तू तो राजा हो गया।' बोला 'आपकी कृपा से हो गया।' अब तक कभी याद नहीं किया था। पूछा 'अब कहाँ जा रहा है?' बोला 'महाराज! लड़ने जा रहा हूँ। आपको

तो पता ही है मैं मदारी हूँ। युद्ध करना तो मैं कुछ जानता नहीं। क्षत्रिय तो हूँ नहीं। आप कृपा करो। किसी तरह इस लड़ाई की झंझट से बच जाऊँ तो बड़ा अच्छा है।' महात्मा ने कहा 'अच्छा तो बैठ जा और आँखें बन्द कर थोड़ी देर ध्यान कर।' थोड़ी देर में आँख खोलता है तो देखता है कि वे ही महात्मा वहाँ, वे ही बकरियाँ हैं! न हाथी है न कुछ है। चारों तरफ घबराकर देखने लगा कि सब कहाँ चले गये। देखता है कि जो पहने हुए हीरे जवाहरात थे वे तो सब चले गये और पहले वाले जो मदारी के कपड़े थे वे ही रह गये। डमरू भी रखा हुआ था। कहने लगा 'भगवन् ! आपने तो राज्य ही छुड़ा दिया, मैं तो खाली लड़ने से ही बचना चाह रहा था!' महात्मा ने कहा, 'देख, तू ने मुझे खेल दिखाया और मैंने भी तुझे खेल दिखा दिया। अब खेल खत्म हो गया। अब अपना जो काम करता था वही कर।'

विचार करो : मदारी कोई दूसरा नहीं, हम लोग ही वह मदारी हैं। हमारे पास पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं जो बंदर की तरह चंचल हैं, झट इधर से उधर भागती हैं। अगर पाँच मिनट प्रयत्न करो कि भगवान् शंकर की मूर्ति सामने है, उसके ऊपर जमे, तो कभी पुजारी दीखेगा, कभी आने वाला भक्त दीखेगा, कभी वहाँ पर रखी हुई चाँदी की चन्दन की कटोरी दीखेगी। उस मूर्ति के ऊपर पाँच मिनट यदि मन को स्थिर करना चाहो तो नहीं होगा। तो ये पाँचों हमारी इन्द्रियाँ बन्दर की तरह अत्यन्त चंचल हैं। अत्यन्त चंचल ये पाँच बकरियाँ हमारी कर्मेन्द्रियाँ हैं, जिनसे हम कर्म करते हैं। जैसे बकरी निरन्तर चलने का सोचती है वैसे ही हमारी कर्मेन्द्रियाँ निरन्तर चलने का सोचती रहती हैं। अभी खाया, रास्ते में चले, पकौड़ी की दुकान दीख गई। फिर कहते हैं दो पकोड़े तो खा ही लें। फिर आगे चले, कोका कोला, पेप्सीकोला की बोतल दीखी तो लो ये भी पी लो। चलने का ही निरन्तर सोचती रहती हैं ये बकरियाँ। बकरी तो रास्ते चलते जो चीज दीखेगी उसे झट चरने चली जायेगी। अब इनसे हम खेल दिखलाते हैं और अपना गुजारा करते हैं। कभी ऐसा मौका पड़ जाता

है कि किसी कारण से कोई कार्य हम अपने स्वार्थ के लिये नहीं करके परमेश्वर के लिये कर देते हैं। जैसे मदारी ने महात्मा को दिल से तो खेल नहीं दिखलाया था वैसे ही ईश्वरार्पण बुद्धि से कर्म हम दिल से तो नहीं करते हैं। कोई भी परोपकार का कर्म हो तो आधे मन से किया जाता है। 'इसने कलम लिख दी है, मेरी भी समाज में इज्जत है, कुछ तो कलम लिखा ही देनी चाहिये, नहीं तो नाक कटेगी'—इस प्रकार आधे मन से ईश्वरार्पण बुद्धि से कुछ कर्म कर देते हैं। उतने से ही परमात्मा हमको सब तरह की सफलताएँ दे देते हैं, सब तरह के ऐश्वर्य दे देते हैं। हम समझने लगते हैं 'ये सब तो मेरे ही किये हुए हैं, मेरी ही कमाई है, मेरा ही परिश्रम है, मैंने ही सब कुछ किया है।' अगर व्यक्ति इस बात को याद रखे कि यह सब ऐश्वर्य आने से पहले मैं क्या था? जब हम पैदा होते हैं तो क्या एक धेला भी लेकर आते हैं? एक कपड़े का टुकड़ा भी लेकर आते हैं? यह सब हमको परमात्मा की कृपा से मिल रहा है। जो इस बात को समझता है वह तो याद रखता है कि हम ऐश्वर्य भोग रहे हैं परन्तु उसकी कृपा से। सब कुछ करते हुए अन्त में युद्ध का समय आता है। यमराज के दूतों की चढ़ाई हो जाती है। हमने यदि जीवन अच्छा निभाया तो जैसा लोकमान्य तिलक जब मृत्यु के समीप जा रहे थे तब उन्होंने लिखा है—

'यमदूतों की विमल ध्वजा अब जरा दृष्टि में आती है
करती हुई युद्ध रोगों से, देह हारती जाती है।'

शरीर हार रहा है परन्तु मुझे यमराज की विमल ध्वजा दीख रही है। उससे कोई घबराहट नहीं है क्योंकि मैंने अपना जीवन ठीक बिताया है। परमात्मा को मैं नहीं भूला हूँ। जो कुछ शक्ति उसने दी मैंने उसके लिये काम में ली। परन्तु हम लोग जो इस प्रकार से निरन्तर अपने ही कार्य में लगे रहते हैं उनका ठीक इससे विपरीत मृत्यु की बात सुनते ही दिल दहलने लगता है, अब क्या होगा ? जैसे वहाँ महात्मा ने कहा 'भाई, खेल दीख गया, जैसे थे वैसे ही हो जाओ।' वैसे ही जब यहाँ से जाते हैं तब पहले

की तरह ही हो जाते हैं : आये थे तो कुछ लेकर नहीं आये और जायेंगे तो साथ में एक कपड़ा भी लेकर नहीं जायेंगे, एक धेला भी यहाँ से लेकर नहीं जायेंगे। सब कुछ यहीं रह जायेगा। फिर जैसे वह मदारी था वैसे ही मदारी हम भी बन जायेंगे। इसलिये इस बीच जो हमें मिला है उसे 'असंगशस्त्रेण' सर्वथा असंग रह कर छेदना है। हमको याद रखना है कि हमको किधर जाना है।

परमेश्वर की प्रसन्नता तो अत्यल्प चीज से हो जाती है।

'पत्रफलमात्रसुलभे, कामितफलदे स्थिते साम्बे।
भजसे कृपणं नृपशुं दुःसेव्यमहो कथं चेतः।।'

भगवान् शंकर को प्रसन्न करना कितना सरल है! पत्र, एक बेलपत्र चढ़ा दो, उसी से सुलभ हैं, मिल जाते हैं। कोई फल हो, धतूरे का ही फल हो, जो कोई नहीं खाता वही चढ़ा दो। जो भी हमारा कामित फल है, जो भी हम फल चाहते हैं, वे देने वाले हैं। ऐसे प्रभु के स्थित होने पर भी हम उन्हें प्रसन्न करने की कोशिश करते रहते हैं जो अत्यन्त कंजूस हैं, बड़े से बड़ा कार्य करने पर भी छोटे से छोटा फल देने में भी आनाकानी करने वाले मनुष्य हैं,पशुओं की तरह हैं, अत्यन्त कृपण हैं। इतने सुलभ और सब कुछ देने वाले भगवान् के लिये कुछ भी करना नहीं चाहते। इसलिये भगवान् ने कहा इस अनासक्ति को प्राप्त कर इस संसार वृक्ष को काटने में प्रवृत्ति करो।

प्रवचन—१०

तीसरे श्लोक में भगवान् ने कहा कि आपस में गुथी हुई मज़बूत वासनाओं को असंगतारूप शस्त्र से काट डालो। काट कर क्या करें? यह चौथे श्लोक में बता रहे हैं—

ततः पदं तत् परिमार्गितव्यं।
यस्मिन् गता न निवर्तन्ति भूयः।
तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये
यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी।।४।।

ततः इस प्रकार वासनाओं की आसक्तिको काटने के बाद 'तत् पदम् परिमार्गितव्यम्' वह जो परमात्मा का पद है, परमात्मा का स्वरूप है उसका अन्वेषण करो, ढूँढो। परमात्मा का स्वरूप क्या है इसका पता लगाओ। परमात्मा का स्वरूप पता लगाने से क्या होगा? तो कहा 'यस्मिन् गता न निवर्तन्ति भूयः' उस परमात्मपद को जानकर फिर इस संसार के अन्दर लौटकर नहीं आना पड़ता है। एक बार सचाई का पता लग जाये तो फिर कभी भी गलत ज्ञान नहीं रह सकता है। 'बुद्धेर्धर्मोऽनाग्रहः।' बुद्धि का धर्म ही है कि चाहे हजारों सालों से तुम किसी गलत बात को मानते हो परन्तु जैसे ही सच्ची बात का पता लगेगा, बुद्धि आग्रह को छोड़कर जो सचाई है उसे पकड़ेगी। कई बार लोगों को यह शिकायत रहती है कि बच्चे हमारी बात नहीं मानते हैं। बच्चों को केवल तुम कहोगे यह बात तुमको माननी चाहिये इसलिये मानो—तो काम नहीं होगा। जब तक तुम उनको यह निश्चय न करा सको कि जो बात तुम कह रहे हो वह, जो बात वे मान रहे हैं उसकी अपेक्षा ज्यादा युक्ति और अनुभव के साथ मिलने वाली है तब तक उनके मानने की आशा मत रखो क्योंकि बुद्धि का धर्म ही यह है। जब कभी दो बातें सामने आयेंगी तो बुद्धि तोलेगी। जब परमात्मपद का ज्ञान हो जायेगा तो उसके अज्ञान से होने वाला जो संसार का स्वरूप है वह पुनः तुमको बन्धन में नहीं डाल सकता।

मनुष्य हमेशा ऐसी जगह खड़ा होता है जहाँ दो रास्ते अलग-अलग जाते हैं। अन्यत्र उपनिषद् कहती है—'श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यमेतः तौ

सम्परीत्य विविनक्ति धीरः।' मनुष्य के सामने एक श्रेयका मार्ग आता है और दूसरा प्रिय का मार्ग आता है। प्रिय शब्द का तुलनात्मकता बताने वाला रूप् बनता है प्रेय और प्रशस्त का तुलनात्मक बनता है श्रेय। दो चीजों में से जो बेहतर होगी उसे कहेंगे श्रेय और दो चीजों में जो ज्यादा प्रिय लगेगी, अच्छी लगेगी, उसे कहेंगे प्रेय। हमेशा हमारे सामने दो विकल्प आते हैं कि क्या चीज कल्याणकारी है और क्या चीज हमें अच्छी लगती है। जो धैर्यवान् पुरुष होता है वह तो तोल कर श्रेय के मार्ग को चुनता है प्रेय को नहीं। जिसे शक्कर की बीमारी होती है, उसके खून में वह सामर्थ्य नहीं रहती कि हमेशा शक्कर अंगों के अन्दर, माँसपेशियों के अन्दर या दिमाग के अन्दर पहुँच सके। खून में चीनी मौजूद तो है परन्तु शरीर उससे शक्ति को नहीं ले सकता। इसलिये स्वभावतः जिसे शक्कर का रोग होगा उसे चीनी खाने की ज्यादा इच्छा होगी। चीनी खाना उसे प्रिय लगेगा। जो बुद्धिमान् है वह जानता है कि चीनी खाने से मेरे शरीरकी पुष्टि तो होगी नहीं, इसलिये वह चीनी नुकसान ही करेगी, कोई फायदा नहीं करेगी। खाने से नुकसान है इसलिये खायेगा नहीं। यह श्रेय है। खाना अच्छा लग रहा है इसलिये खा ले, वह प्रेय है। तो जो धैर्यवाला पुरुष है वह तो तोल करके प्रेय को छोड़ कर श्रेय को चुन लेता है। जो व्यक्ति धैर्यवाला नहीं है वह उस क्षणिक सुख से आकृष्ट हो कर खा लेता है और व्यर्थ कष्ट पाता है।

इसी प्रकार जीवन में हमारे सामने एक तो मृत्यु-मार्ग है और एक अमरता का मार्ग है। यजुर्वेद कहता है—मनुष्य क्या है? 'अमृतस्य पुत्राः' अमृत का पुत्र है। मृत्यु इसका सहज स्वाभाविक धर्म नहीं है। अत एव मनुष्य के मन में हमेशा तमन्ना बनी रहती है कि मैं अमर रहूँ। आदमी ग्रंथ का निर्माण करता है कि मेरी बात रहे। वह भी नहीं होता तो सोचता है मेरा नाम रहे, मेरी कीर्ति रहे। वह भी नहीं होता तो अन्ततोगत्वा कहता है कि कम से कम मेरी पुत्र-पौत्र-परम्परा रूप में तो बना रहूँ! पुत्र रूप में पिता ही आता

है। वेद कहता है–'आत्मा वै पुत्रनामास' अपने ही शरीर का तो एक अंश पुत्र के रूप में उत्पन्न हुआ है। इस प्रकार क्यों हर एक के अन्दर अमरता की इच्छा है? क्योंकि अमरणधर्मा अमर का पुत्र है इसलिये। परन्तु गलती वह यह कर रहा है कि जो चीजें अमर नहीं हो सकतीं उनके द्वारा अपनी अमरता को ढूँढ रहा है। न पुत्र परम्परा हमेशा रह सकती है न नाम, कीर्ति हमेशा रह सकती है और न विचार हमेशा रह सकता है। शरीर तो रह ही नहीं सकता।

पुराणों में एक राजा के बारे में आता है कि उसने बहुत यज्ञ किये और स्वर्ग गया। जहाँ उसने यज्ञों की धारा बहाई वहीं चर्मण्वती नदी हो गई, जिसे आज कल चम्बल नाम से कहते हैं। वहाँ जाकर वह दीर्घकाल तक रहा। अन्त में एक दिन इन्द्र ने बुलाकर कहा 'भाई देखो, स्वर्ग में आदमी तभी तक रह सकता है जब तक उसका पुण्य हो और उसका नाम हो। तेरा पुण्य तो बाकी है परन्तु कोई पृथ्वीलोक में यह कह दे कि वह तुझे जानता है तब तू यहाँ रह सकता है।' जैसे आजकल के जमाने में होता है, पेंशन मिलने के लिये डाक्टर का सर्टिफिकेट चाहिये कि तुम अभी जिन्दा हो! उसी प्रकार तुम्हारे नाम का कोई गवाह हो तभी स्वर्ग में रह सकोगे। उसने कहा 'मुझे तो सब जानते हैं।' वहाँ हजारों वर्ष हो गये थे तो यहाँ न जाने कितने हो गये! वापस आकर जब उसने देखा तो जहाँ नदी थी वहाँ जमीन हो गई थी और जहाँ जमीन थी वहाँ नदी हो गई थी, जहाँ शहर थे वहाँ जंगल हो गया और जहाँ जंगल थे वहाँ शहर हो गया था। चारों तरफ घूमा, फिर भी कोई नहीं मिला। लम्बी कहानी है। अन्त में ढूँढते-ढूँढते वह भगवान् के कच्छप अवतार के पास पहुँचा, जिसके ऊपर पृथ्वी है। उन्होंने कहा 'हाँ मुझे याद है। तू जब यज्ञ किया करता था तो मेरी पीठ जला करती थी। इतने यज्ञ किया करता था इसलिये याद है।' गवाह मिल जाने पर वह वापस स्वर्ग चला गया। हम लोग सोचते हैं कि हमारा नाम अमर हो

जायेगा, वह सम्भव नहीं है। हम लोग सब भगवान् राम के बड़े भक्त हैं। उनके बाप दशरथ को भी हम लोग जानते हैं परन्तु यदि आगे हम पूछें कि दशरथ के पिता का क्या नाम था? तो शायद यहाँ जिले भर में पाँच सौ-हजार आदमी जानते होंगे बाकी को दशरथ के पिता का नाम नहीं पता है। किसी प्रकार यदि पिता का नाम पता भी हो जाये तो आगे दादा का नाम पूछे जाने पर शायद दस-पन्द्रह लोग ही बता सकें। जिनकी हम रात-दिन पूजा करते हैं उनका यह हाल है। अगर हम लोग चाहें कि हमारी परम्परा और नाम रहेगा तो सिवाय भ्रम के कुछ नहीं है।

हम अमरता चाहते हैं यह तो स्वाभाविक है क्योंकि हम अमर के पुत्र हैं। परन्तु जो मरणधर्मा हैं उनमें हम अमरता चाहते हैं, बस यही भूल है। हमारे आत्मस्वरूप में अमरता है। कौन सी वह चीज है जो हमें जीवित रख रही है? कितने ही प्राणी आये गये किन्तु अनादिकाल से आज तक जो आत्मतत्त्व है, जो जीवित रखने वाली चीज है, वह आत्मा तो वैसा ही है। मनुष्य जन्म की हमको प्राप्ति हुई जिससे हम अमरता का पता लगायें। परन्तु यहाँ आकर हम व्यर्थ में मनुष्य जन्म को खोने लग गये। जो मरणधर्मा चीजें हैं उन्हीं में फँस गये। इसलिये हमारी जो स्थिति है उसको बतलाते हुए प्राचीन आचार्य कहते हैं—'स्थाल्यां वैदूर्यमय्यां पचति च लशुनं हीन्धनैश्चन्दनोत्थैः'—हमारा यह हाल है : बढ़िया सुन्दर जवाहरात की तो हमारे पास बटलोई है, जिसमें दाल-भात उबालते हैं, पकाते हैं परन्तु उसमें हम पका क्या रहे हैं ? लहसुन जो बदबू की चीज है! लहसुन पकाने के लिये हमने आग किसकी जला रखी है? चन्दन की हमने आग जला रखी है! इतनी बढ़िया बटलोई में हमको पकाना क्या है तो लहसुन पकाना है। दूसरा दृष्टान्त लेते हैं—'सौवर्णैर्लांगलाग्रैर्विलिखति वसुधामर्कमूलस्य हेतोः' हमने सोने का हल तो बना लिया जब कि सब लोग लोहे का बनाते हैं। परन्तु हम बो क्या रहे हैं? आँकड़े बो रहे हैं! जो अत्यन्त सामान्य है और

उसे पैदा करने के लिये हम सोने के हल का प्रयोग कर रहे हैं। तीसरा दृष्टान्त लेते हैं–'चित्वा कर्पूरखण्डान् वृतिमिह कुरुते कोद्रवाणं समन्तात्' बढ़िया, सुन्दर, अच्छा कपूर, भीमसेनी कपूर जो खाने के काम आता है, उस कपूर के टुकड़ों को हम किसकी रक्षा करने के लिये रख रहे हैं ? कोदौं की! कोदौं अत्यन्त ही मोटा अनाज होता है, उसकी रक्षा के लिये उस कपूर को डाल रहे हैं।

जैसे ये तीन दृष्टान्त हैं वैसे ही 'प्राप्येमां कर्मभूमिं न चरति मनुजोयस्तपो मन्दभाग्यात्'। हमें मनुष्य शरीर प्राप्त हुआ है कर्म करने के लिये, उत्तम कर्म करने के लिये प्राप्त हुआ है लेकिन उसे हम नहीं करते हैं। वहाँ हमें कौन सा कर्म करना चाहिये ? मनुष्य शरीर में आकर हमें भोग नहीं करना है, तप करना है। परन्तु मन्द भाग्य के कारण हम तप नहीं करके, जो पशु-पक्षी भी कर सकते हैं उस भोग में लग जाते हैं। जैसे वहाँ बढ़िया वैदूर्य की बटलोई है, भगोना है वैसे ही हमारा जो मनुष्य शरीर है यह हीरे जैसी चीज है, क्योंकि इसके अन्दर परमेश्वर ने ऐसी सामर्थ्य दी है जो और किसी प्राणी में नहीं है। संसार में कोई प्राणी ऐसा नहीं है जिसका अँगूठा और अँगुलियाँ एक दूसरे के सामने जा सकें। यही मूल कारण है कि हम हर चीज को उठाकर सामने से देख सकते हैं, उसकी परीक्षा कर सकते हैं। संसार में कोई भी प्राणी ऐसा नहीं है जो पदार्थ की इस प्रकार परीक्षा कर सके। भगवान् ने ऐसा इसलिये बनाया जिससे हम हर चीज की परीक्षा करना सीखें परन्तु अपने प्रमाद के कारण हम परीक्षा नहीं करते हैं। इतना सुन्दर हमें मनुष्य शरीर मिला है, जिसमें हम उत्तम कार्य कर सकते हैं पर करते नहीं हैं। उसमें करते क्या हैं ? जिसमें बदबू आती है ऐसे अधर्मका आचरण करते हैं। हमें तो प्राणिमात्र से प्रेम करना चाहिए और हम प्रयत्न करके आपस में झगड़ा करते हैं जैसे शायद कुत्तों को छोड़कर कोई भी दूसरे प्राणी नहीं करते हैं। परन्तु कभी कुत्तों को भी ध्यान से देखो, झगड़ा करते हैं लेकिन

आधे घण्टे के बाद झगड़े को भूलकर अपने रास्ते लग जाते हैं। परन्तु हम लोग झगड़ों को इतना गाँठ बाँधकर रखते हैं कि चाहते हैं हमारे बेटे और पोते भी उस झगड़े को चलाते ही रहें! इसी प्रकार हमें सत्य का आचरण करना है परन्तु पूरा प्रयत्न करके झूठ का आचरण करते हैं कि सत्य एक असम्भव सी चीज लगने लगती है। कभी भी किसी अन्य प्राणी की चीज के प्रति हमको इच्छा नहीं होनी चाहिए परन्तु हम अखबारों में विज्ञापन देख-देखकर दूसरे के चीजों की इच्छा करते ही रहते हैं। पुराने जमाने में लकड़ी की अलमारियों में मिठाई रखते थे, कोई आयेगा, माँगेगा तो दे देंगे। कभी दिल्ली में जाओ तो काँच की अलमारी के अन्दर लोग मिठाई रखते हैं। रास्ते चलते भी लोग सोचते रहें 'यह खायें, वह खायें।' इस प्रकार दूसरे के यहाँ रखी हुई चीजों के प्रति जो अपने मन की कामना है उस कामना को बड़ा अच्छा नाम दिया है, 'विन्डो शॉपिंग' जहाँ खरीदना कुछ नहीं है बस देख-देखकर अपने दिल को जलाते रहना है। इसी प्रकार पदार्थ उतने ही संग्रहीत होने चाहिए जितने हमारे उपयोग में आयें। पुराणों के अन्दर बतलाया—'यावद् भ्रियेत जठरं तावत् स्वत्त्वं हि देहिनाम्। अधिकं योऽभिमन्येत स स्तेनो दण्डमर्हति।।' जिसमें अपना पेट भरता है, अपना गुजारा होता है उतने पर अपना सच्चा अधिकार है। पेट भरना कहा क्योंकि पेट तो मनुष्य का भर सकता है परन्तु मन कभी नहीं भर सकता है। पेट से यहाँ मतलब हुआ जितनी तुम्हारी तुरन्त की आवश्यकता है। तुरन्त में दो महीना ले लो, चार महीना ले लो। ब्राह्मण के धर्म को बतलाते हुऐ स्मृतिकार कहते हैं ज्यादा से ज्यादा कंजूस हो जाये तो तीन साल का भोजन अपने पास रखे। उसके बाद यदि होता है तो अवश्य ही उसको दान-यज्ञ के द्वारा खत्म कर दे। उससे अधिक तो कभी न रखे। उत्तम ब्राह्मण वह है जो कुम्भी-धान्य होता है अर्थात् केवल एक घड़े के अन्दर जितना अनाज आये उतना ही रखता है। जितने में पेट भरता है उतना तो सचमुच तुम्हारा

है। उससे अधिक चीजों के ऊपर जो अभिमान करके बैठता है, 'यह मेरा है, मेरा है,' परिग्रह करता है, संग्रह करता है, पुराणकार कहते हैं वह चोरी कर रहा है! उसकी चीज नहीं है पर जबरदस्ती दबा रहा है। उसको दण्ड देना चाहिये, वह दण्डनीय हो जाता है। इस प्रकार अहिंसा, सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह इत्यादि जो हमको पालन करने चाहिये वे नहीं करते हैं और उससे विपरीत करते हैं। तो लहसुन ही तो पका रहे हैं और क्या कर रहे हैं ? उसके लिये आग किससे जला रहे हैं? तो चन्दन से। मनुष्य शरीर की प्राप्ति हमको पुण्य कर्मों से हुई है। उन पुण्य कर्मों को जलाकर हम उसका उपयोग अधर्म करने के लिये कर रहे हैं। न जाने फिर कब मौका मिलेगा जब हम पुण्य करके मनुष्य योनि को प्राप्त कर सकेंगे। जला रहे हैं चन्दन को मनुष्य योनि में आये हुये पुण्यों को, परन्तु उससे पका रहे हैं अधर्म को।

अगला दृष्टान्त लिया सोने का हल। गीता में भगवान ने मनुष्य शरीर को खेत बतलाया है– 'इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते।' शरीर को खेत बतलाया है। इस खेत के अन्दर हम जो चाहें वह पैदा कर सकते हैं। अच्छी से अच्छी चीज बो सकते हैं। इसमें हम परमात्म-ज्ञान को बोकर मोक्ष पा सकते हैं। इसके अन्दर हम परमेश्वर की भक्ति को बोकर सर्वोत्तम फल उगा सकते हैं। इसके अन्दर हम सब लोगों के कल्याण के कर्म बो सकते हैं। परन्तु सब न बोकर हम क्या बो रहे हैं? तो आँकड़ा बो रहे हैं, जो जहर से भरा हुआ है। इस शरीर में आ कर जितनी बुरी इच्छाएँ हैं वे हम इसके अन्दर भर रहे हैं। 'मेरे से कोई दूसरा आगे क्यों बढ़ गया और अगर आगे बढ़ गया तो मैं किस तरह से लात मारकर गिराऊँ'—ये सारी इच्छाएँ हम बो रहे हैं। जैसे आँकड़ा जहर है और यह प्रसिद्धि है कि उससे निकलने वाला दूध यदि आँख में लग जाये तो आदमी अंधा हो जाता है उसी प्रकार इस प्रकार की इच्छाएँ हमारी विवेकशक्ति रूप आँख को अंधा कर देती हैं। इन इच्छाओं के कारण ही हमारी विवेक करने की सामर्थ्य नहीं रहती है।

और दृष्टान्त दिया—जो अत्यन्त ही सामान्य अनाज है उसकी कपूर जैसी अत्यन्त कीमती चीज से रक्षा कर रहे हैं। इस प्रकार जो अत्यन्त सामान्य ज्ञान हैं उनकी ही प्राप्ति में हम अपनी बुद्धि को लगा रहे हैं। हम भेदज्ञान में बुद्धि को लगा रहे हैं, अभेदज्ञान की ओर बुद्धि को लेकर नहीं जाते हैं। कैसे ज्यादा से ज्यादा भेद किया जाये, कैसे ज्यादा से ज्यादा अलगाव किया जाये इसी की कोशिश है। राष्ट्रों का अलगाव, राष्ट्रों के अन्दर प्रान्तों का अलगाव, प्रान्तों के अन्दर भाषाओं का अलगाव, भाषाओं के अन्दर जातियों का अलगाव। कितना हम ज्यादा से ज्यादा अलगाव कर सकें, बस भेद-ज्ञान की रक्षा में लगे हुए हैं, अभेद-ज्ञान की कोई चिन्ता नहीं है।

आज कल आदिम जातियों को बेक्वर्ड क्लासेज कहा जाता है। उनके पास जाकर उनके चरित्र और व्यवहार को देखो तो दिल्ली वाले ही बेक्वर्ड सिद्ध होंगे। लेकिन अंग्रेजी की जूठन खाकर हम लोग भी उनको 'पिछड़े लोग' कहने लग गये। जब हम पिछड़े लोग कहते हैं तो हमने क्या मानदण्ड बना लिया है ? जिसके पास पैसा कम है वह पिछड़ा हुआ है और जिसके पास ज्यादा पैसा है वह आगे बढ़ा हुआ है। पश्चिम भारत में मेदपाट के आस-पास बड़ा जंगल का क्षेत्र है। पहले किसी समय में वहाँ बहुत शेर इत्यादि होते थे। एक बार अवन्तिका का, उज्जैन का एक राजा वहाँ शिकार खेलने के लिये गया। पुराने जमाने में जब शिकार के लिये जाते थे तो वहाँ के रहने वाले लोगों को साथ ले लेते थे। वे लोग बतलाते थे कि शिकार कहाँ मिलेगा। वे लोग तीर इत्यादि लेकर बाजा बजाते हुए इस प्रकार से शोर करते थे कि पशु इत्यादि वहाँ आ जाते थे और उनका शिकार कर लिया जाता था। आहुक नाम का वहाँ एक भील था। उसको राजा ने वहाँ शिकार में मदद करने के लिये नियुक्त किया था। बड़े नियम से वह राजा की मदद करता रहा। वहाँ राजा महीना भर रहा। वहाँ तो वह पटकुटि में ही रह सकता था, टेन्ट में। राजा भगवान् शंकर का भक्त था। उसके पास

भगवान् शंकर की एक बड़ी सुन्दर मूर्ति थी, लिंग था। उसका वह रोज सबेरे उठकर अभिषेक और पूजन करता था। आहुक भील के मन में यह जानने की इच्छा हुई कि सबेरे-सबेरे राजा क्या करता है। तो पटकुटि में जहाँ जोड़ था उसको थोड़ा चौड़ा करके आँख गाड़कर देखने लगा। उसको यह दीखा कि राजा रोज उस मूर्ति का अभिषेक करते हैं। परमेश्वर के स्वरूप पर कब किसका प्रेम जग जाता है कुछ पता नहीं। उसके मन में आया, यदि मेरे पास भी ऐसे भगवान् होते तो मैं भी पूजा करता।

राजा का महीने भर का कार्यक्रम था। वह खत्म हुआ तो राजा जाने लगा। आहुक ने बड़े परिश्रम से और बड़े सुन्दर ढंग से काम किया था। इसलिये राजा आहुक से प्रसन्न हो गया। राजा ने कहा, 'मैं तेरे काम से प्रसन्न हूँ। तुम जो चाहो सो माँग लो।' उसने कहा'जो चाहूँ सो माँग लूँ?' राजा ने कहा 'हाँ, जो चाहो सो माँग लो।' उस भील ने कहा, 'जिस मूर्ति की आप सबेरे पूजा करते हैं, वह आप मेरे को दे दें।' राजा ने कहा'अरे इसका तू क्या करेगा?' बोला 'मैं भी पूजा करूँगा।' अब राजा ने एक दो बार तो उससे कहा कि और कुछ माँग ले। पर वह नहीं माना और कहने लगा कि 'उसको छोड़कर मैं कुछ भी नहीं लूँगा।' राजा ने कहा, चलो इसका इतना प्रेम है तो कोई बात नहीं। भील ने राजा से उस मूर्ति के ठीक-ठीक पूजन का नियम बताने को कहा। राजा ने विचार किया, यह भील जाति का है, इस तरह की पवित्रता रख सके या न रख सके। इसलिये इसको वह साधन बताया जाये जिसमें पवित्रता न होने पर भी काम चले। भगवान् शंकर को चिताभस्म प्रिय है और इसके अन्दर तो कभी भी अशुद्धि का प्रश्न हो ही नहीं सकता। राजा ने कहा, 'भाई तुम जल चढ़ा देना, भोग लगा देना, फल चढ़ा देना और चिताभस्म जरूर चढ़ा देना।' उसने कहा 'ठीक है।'

राजा चला गया। वह नियम से पूजा करता रहा। पूजन करते-करते

बारह वर्ष हो गये। एक बार बड़ी घनघोर वृष्टि होने लगी, पानी बरसने लगा और ऐसी वृष्टि हुई कि चिताभस्म दुर्लभ हो गया। एक दिन पूजा करते समय बहुत ढूँढने पर भी उसे चिताभस्म नहीं मिला। उसके मन में बड़ा दुःख हुआ। उसकी पत्नी भी उसके साथ भगवान् की भक्ति करती थी। उसने पत्नी से कहा 'आज मैं अपना शरीर छोड़ दूँगा। अब जिन्दा रहने से कोई फायदा नहीं। इतने बड़े राजा से मैंने इसको लिया और आज ऐसा दिन आ गया है कि चिताभस्म नहीं मिल सकती और पूजा भी पूरी नहीं हो सकती है। मेरे जीवन को धिक्कार है।' जिस भील जाति को कोई आदिम जाति कहते हैं, कोई बेक्वर्ड कहते हैं और कोई पिछड़ी हुई कहते हैं उसकी यह भावना है! जीवन की पूर्णता कहाँ प्रकट होती है कुछ पता नहीं। पत्नी कहने लगी 'तो आप इसकी चिन्ता क्यों करते हैं, अपनी झोपड़ी तो है ही।' बोला 'झोपड़ी से क्या मतलब!' बोली–'झोपड़ी के अन्दर मैं बैठ जाती हूँ और आग लगा देती हूँ। इस तरह मैं जल जाऊँगी, चिताभस्म तैयार हो जायेगी और भगवान् का पूजन हो जायेगा।' आहुक ने कहा 'तुम जल जाओगी।' बोली 'एक दिन तो शरीर को मरना जरूर है और यदि यह भगवान् के काम आ जाये तो इससे अच्छी चीज क्या हो सकती है?' उसने भी कहा 'तुम ठीक ही कहती हो।' जब वह अपने को जलाने के लिये बैठी तो भगवान् से प्रार्थना करती है–

'पुष्पाणि सन्तु तव देव ममेन्द्रियाणि
धूपोऽगरुर्वपुरिदं हृदयं प्रदीपः
प्राणा हवींषि करणानि तवाक्षताश्च
पूजाफलं व्रजतु साम्प्रतमेष जीवः।।'

'हे देव! मेरी जो ये आँख, कान, नाक इत्यादि इन्द्रियाँ हैं वे फूल की तरह आपको चढ़ा रही हूँ। मेरा जो शरीर है यह आपके लिये धूपबत्ती का काम करे, अगरबत्ती का काम करे। मेरा जो हृदय है वह दीपक की तरह

चढ़ा रही हूँ। मेरे जो प्राण हैं वे आपके लिये आहुति की तरह चढ़ा रही हूँ। हाथ, पैर इत्यादि कर्मेन्द्रियाँ मैं आपको अक्षत की तरह, चावल की तरह चढ़ा रही हूँ। जो मेरा जीव है वह इस पूजा के फल को प्राप्त कर आपके चरणों में जाये।' यह प्रार्थना करते हुए उसने अपने को जला दिया।

आहुक अत्यन्त निर्विकार भाव से उस भस्मी को लेकर पूजा के लिये बैठ गया। जब पूजा समाप्त हुई तो जैसा हर दिन किया करता था वैसे ही स्वभाववश उसने कहा 'अरे पूजा हो गई, भोग ले आओ।' उसको उस समय ख्याल नहीं रहा। लेकिन कहते ही देखता है कि अत्यन्त दिव्य शरीर धारण किये हुए, अत्यन्त दिव्य गहने पहने हुए उसकी पत्नी सोने की थाली में बहुत बढ़िया भोग की सामग्री लिये हुए आई। उसको देखकर भील को होश आया। उसने कहा 'अरे तुम तो जल गई थी फिर क्या हुआ ?' बोली 'मैं जब उसके अन्दर जाकर बैठी और आग जलाई तब तक का तो मुझे पता है। उसके बाद मुझे कुछ होश नहीं रहा। अभी आपने जैसे ही भोग के लिये आवाज दी तब मुझे होश आया तो मैंने देखा कि भोजन तैयार है और इसको ले करके आ गई।' उसकी उस पूजा को देखकर भगवान् शंकर प्रसन्न हो गये। उसने भगवान् से कहा—आप इस प्रकार छिपकर नहीं बल्कि सामने आकर दर्शन दें। तो भगवान् शंकर ने उसको दर्शन दिया और वे कल्याण के भागी बने।

कहाँ तो हमें अपने शरीर,इन्द्रियाँ उस भीलनी की तरह परमात्मा को चढ़ाने चाहिये और कहाँ हम उनको अधर्म में, बुरी इच्छाओं के अन्दर और बुरे प्रकार के जो भेद-ज्ञान हैं उनमें लगा रहे हैं ! इसलिये भगवान् ने कहा—'ततः पदं तत् परिमार्गितव्यम्।' तत्पद जो परमात्मपद है उसका परिमार्गण करो, अन्वेषण करो। क्योंकि उसमें जा कर फिर लौटकर नहीं आना पड़ता है। जिस प्रकार इस भीलनी ने अपना सब कुछ अर्पण किया उसी प्रकार अपना सब कुछ अर्पण कर उस परम पद को प्राप्त कर अमरता

को प्राप्त करना है क्योंकि हम अमृत के पुत्र हैं। इन सब चीजों से ऐसी दुर्लभ अमरता को छोड़ कर अत्यन्त क्षणिक पदार्थों की ओर हम जाते हैं। यह वैदूर्य में चंदन के ईधन से लहसुन पकाने की तरह या सोने के हल से आँकड़ा बोने की तरह हम व्यर्थ का प्रयास कर रहे हैं। इसलिये भगवान् ने कहा—उस परमात्मा के स्वरूप का पता लगाओ, उसको ढूंढो, उसको पाने का प्रयत्न करो जिसको प्राप्त कर फिर कभी भी जन्म मरण के बन्धन में नहीं आना पड़ता है।

प्रवचन—११

श्रीमद्भगवद्गीता के पंद्रहवें अध्याय का विचार चल रहा है। चौथे श्लोक में बताना आरंभ किया कि असंगता से वासना-जाल काटकर परमात्मा के स्वरूप का पता लगाने के प्रयत्न में ही तत्पर होना चाहिये। उसे जानने की,पाने की कोशिश करनी है जिसे जानकर कुछ अनजाना नहीं रह जाता, जिसे पाकर कोई प्राप्तव्य नहीं रह जाता। परमात्मा की पूरी जानकारी हो जाये तो फिर जन्म-मरण के बंधन में पुनः आना नहीं पड़ता।

ढूँढने का उपाय क्या ? भगवान् कहते हैं जैसे मैंने ढूंढा वैसे ही तुम भी ढूँढो; 'तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये।' उस आद्य पुरुष की मैं शरण लेता हूँ। 'शरण ली' न कहकर 'मैं शरण लेता हूँ' ऐसा कहकर भगवान् यह प्रतिपादित करना चाहते हैं कि जिस मार्ग से कोई चला हुआ हो और मार्ग से चलकर लक्ष्य को प्राप्त किया हुआ हो, वह अगर किसी मार्ग को बतलाता है तो वह मार्ग विश्वास के योग्य होता है, श्रद्धेय होता है, आदरणीय होता है। और जो जिस मार्ग पर चल कर अपने लक्ष्य को नहीं प्राप्त कर चुका है वह यदि मार्ग बतलाता है तो सुनी-सुनाई बात है। वह श्रद्धेय नहीं होता, विश्वास के योग्य नहीं होता है। लोक में भी जो जिस चीज का व्यावहारिक प्रयोग कर चुका है, वह जब उस बात को कहता है तब तो आदमी विश्वास

करता है। कोई औरत कहे–'मैं भरवाँ आलू इस प्रकार से बनाती हूँ' तब तो उससे पूछ कर तुम वैसा बनाने का प्रयत्न कर सकती हो। अन्यथा आजकल हर एक अखबार में, मासिक पत्रिकाओं में औरतों को खुश करने के लिये एक दो पन्ने छाप देते हैं–अमुक चीज ऐसे बनाओ, अमुक चीज ऐसे बनाओ। एक ऐसा ही लिखने वाला आदमी है। बहुत से होंगे। वह कभी हमसे मिलने आया। बातचीत में उसने अपना परिचय दिया कि अमुक मासिक पत्रिका में इस नाम से मेरा लेख हमेशा निकलता है। हमने कहा–'अरे तुमने भोजन बनाने की इतनी कला कहाँ से सीख ली?' क्योंकि वह कोई रसोईया नहीं था बल्कि कोई सरकारी ऑफिस में काम करता था, अफसर था। हमने पूछा–'तुमको कैसे शौक लगा, तुमने कैसे सीख लिया?' उसने कहा, 'जी मेरे को तो बटलोई चढ़ानी भी नहीं आती। विदेशों में कुछ किताबें छपती हैं। उनका नाम है रसोईये की किताबें, कुक बुक्स। मैं तो उनमें से देखकर उसका हिन्दी तर्जुमा कर छाप देता हूँ। मेरे को बनाना-वनाना कुछ नहीं आता।' हमने उससे पूछा 'अरे जब तुमने बनाकर देखा ही नहीं तो यदि बनाने में गड़बड़ हो जाये तो?' बोला–'मेरी मासिक पत्रिका पढ़ने वाली जो लखपति, करोड़पति लड़कियाँ हैं उनको भी किसी को बनाना तो है नहीं। वे भी अपने रसोइये को बुला करके कहेंगी ' अरे यह छपा है तुम बनाओ।' ठीक नहीं बनेगा तो वे रसोइये को डाँटेगी, हमको थोड़े ही डाँटेंगी!'

ठीक इसी प्रकार वर्तमान काल में अनेक लोग आध्यात्मिक मार्ग की बात बतलाते हैं, बड़े जोर-शोर से प्रतिपादन करते हैं। परन्तु यदि उनसे सचमुच में पूछा जाये, भाई इस रास्ते पर चले हो? तुमको मिला है? तो घूम-फिरकर यही कहेंगे कि अमुक किताबों में हमने पढ़ रखा है। अब समझ लो उनकी बात मानकर कोई चलेगा तो क्यां होना है!! यह गलती कलियुग में लोग करेंगे अतः भगवान् ने यहाँ यह नहीं कहा कि 'परमेश्वर की शरण ले।' 'तुम लो' यह भी नहीं कहा। 'मैं लेता हूँ' अर्थात् मैंने स्वयं इस रास्ते

को भली प्रकार से देखा है, समझा है, अनुभव किया है, अतः यह प्रमाण-सिद्ध चीज है।

आदि पुरुष कैसा है ? भगवान् ने संक्षेप में उसका लक्षण कर दिया—'यतः पुराणी प्रवृत्तिः प्रसृता।' जिसकी शरण लेता हूँ वह कौन है? जिससे पुरानी अर्थात् अनादिकाल से होने वाली प्रवृत्ति, यह सृष्टि, स्थिति, लय इत्यादि 'प्रसृता' फैली है। जिसने इस सारे संसार को फैलाया है उसकी शरण लेता हूँ। यजुर्वेद की तैत्तिरीय उपनिषद् में आता है—महर्षि भृगु अपने पिता वरुण के पास जाते हैं और परमात्मा के बारे में पूछते हैं। महर्षि वरुण उसको चिह्न बतला देते हैं और कहते हैं इससे पता लगाओ। परमात्मा का साक्षात् उपदेश करना असम्भव है। किसी भी वाणी के द्वारा, किसी भी शब्द के द्वारा परमात्मा को नहीं बता सकते हैं। किसी भी शब्द का जब प्रयोग करते हैं तो उसके चार निमित्त बनते हैं। तुमको कोई बात कहें और तुमको उस शब्द का अर्थ समझ में आये तो उस शब्द की प्रवृत्ति के चार निमित्त होते हैं। किसी चीज का उपदेश गुण के द्वारा किया जाता है। जैसे तुमने लाल रंग कहीं देखा है, लाल चिड़िया देखी है, लाल पत्ता देखा है। हम तुमको किसी नयी चीज का उपदेश देना चाहते हैं जिससे उसके बारे में तुमको कुछ पता लगे। मानो कि तुम कभी दिल्ली नहीं गये। तुमने कहा—'वहाँ दिल्ली का किला हमको कैसे पता चलेगा?' तब हम कह देते हैं कि—सारा ही लाल पत्थर का बना हुआ है। तुम जब दिल्ली जाते हो तो सबसे बड़ा लाल पत्थर का जो किला है उसको देखते ही समझ लेते हो कि यही लाल किला है। इस तरह गुण से किसी चीज का पता लगता है। लाल रंग तुमने कहीं देखा और हमने किसी दूसरी चीज को लाल बतलाया तो उस रंग से तुम पहचान लेते हो। तुमने वह चीज तो नहीं देखी परन्तु उस चीज में रहने वाले एक गुण को देख लिया है। इस लिये जब हम बतलाते हैं तो तुमको पता लग जाता है कि यह वही लाल चीज है। जिस चीज

को तुम नहीं जानते, उस चीज के बारे में हमको कुछ बतलाना है तो उसके किसी एक गुण को बतलाने से तुम चीज को पहचान लेते हो। शब्द के द्वारा नया ज्ञान कराने का यह एक तरीका है।

दूसरा : क्रिया के द्वारा भी ज्ञान कराया जाता है। देवदत्त कहाँ है? अब तुम जाकर देवदत्त को दिखाना नहीं चाह रहे हो तो तुम कह देते हो–'अरे उस कमरे में जो रसोई बना रहा है वह देवदत्त है।' चाहे उस कमरे में और भी चार लोग अलग-अलग काम कर रहे हों। कोई दही की मथानी लेकर मक्खन निकाल रहा है, कोई साग छील रहा है, कोई दाल बीन रहा है। वहाँ कई लोग हैं। परन्तु जो कढ़ाई पर हलुआ हिला रहा है, रसोई बना रहा है, उसको देखकर, क्रिया को देखकर तुम बता देते हो कि यह देवदत्त है। तुम तो नहीं जानते थे कौन सा देवदत्त है, परन्तु रसोई बनाने की क्रिया तुमने कहीं देखी है और यहाँ पर 'रसोई बनाने वाला' कह दिया तो तुमको पता लग गया। गुण के द्वारा या क्रिया के द्वारा किसी भी नयी चीज को कह सकते हो।

अथवा जाति के द्वारा भी कह सकते हो। किसी जगह पशु खड़े हैं। गाय, भैंस, बकरी सब खड़े हैं। तुम कहते हो 'मेरा वाला जानवर ले आओ।' उससे पूछते हैं 'तुम्हारा जानवर कौन-सा है ?' तुम कहते हो 'मेरी गाय है।' वहाँ अनेक जानवर हैं। गाय भी है, भैंस भी है, बकरियाँ भी हैं लेकिन उनमें गाय तुम्हारी है। तो तुमने गाय की जाति कह दी कि 'वहाँ पर गाय हमारी है'। तुम गाय की जाति जानते हो इसी लिये वहाँ जा कर पहचान लेते हो कि यह इसका पशु है, और ले आते हो। तुमने गाय को किससे बतलाया? जाति से बताया। गाय जाति वाला जानवर मेरा है। किसी को गुण से बतला सकते हो, क्रिया से बतला सकते हो और जाति से बतला सकते हो।

अनेक बार सम्बन्ध से भी बतलाया जा सकता है। हमने किसी से कहा–'अरे हमारी गीता की किताब उठा लाओ।' अब उस कमरे में बहुत

सी किताबें पड़ी हुई हैं। जिससे कहा वह पढ़ा-लिखा नहीं है इसलिये पूछता है कि 'गीता की किताब कौन सी है ?' उसको कह देते हैं—'खिड़की पर पड़ी हुई किताब गीता की है।' खिड़की और गीता का सम्बन्ध बतला दिया। वह जाकर खिड़की से किताब उठा लाता है। इस प्रकार गुण, क्रिया, जाति और सम्बन्ध इन चार के द्वारा किसी नयी चीज को बताया जा सकता है। जिस चीज का तुमको ज्ञान नहीं उस चीज को इन चारों से बताया जा सकता है, जहाँ शब्द से बताना है। अगर तुम उस चीज को जानते हो तो उसके नाम से बताया जा सकता है। अगर तुम देवदत्त को जानते हो तो सीधा 'देवदत्त को बुला लाओ' इतने से काम चलेगा, लेकिन तभी जब उस देवदत्त को तुम जानते हो। परन्तु यदि तुम उसको नहीं जानते और शब्द से बतलाना है तो बस ये चार ही तरीके हैं, या गुण बतायें या क्रिया बतायें या जाति या सम्बन्ध बतायें। घर जाकर सोच लेना। कोई दूसरा पाँचवा तरीका नहीं मिलने वाला है।

परमेश्वर का अब तक तो तुमने अनुभव किया नहीं। कहो शायद अनुभव कर ही लिया होगा किसी जन्म में! तो यहाँ भगवान् ने कह दिया—'यस्मिन् गता न निवर्तन्ति भूयः' अगर परमात्मा का दर्शन कर लिया होता तो इस जन्म-मरण के चक्र में नहीं आते। यहाँ आये हो तो यह निश्चित है कि इसके पहले तुमने कभी परमेश्वर का दर्शन नहीं किया। इसलिये केवल नाम लेकर तो तुमको कुछ पता नहीं चलेगा क्योंकि पहले जाना हुआ हो और तब नाम लें तब तो समझोगे, लेकिन वह पहले से जानी हुई चीज तो है नहीं। इसलिये यदि परमेश्वर को बतलाना है तो इन चार निमित्तों से बताना पड़ेगा। इन चारों का बार-बार शास्त्र परमेश्वर में निषेध करते हैं। परमेश्वर में कोई गुण है नहीं। वह निर्गुण है। यदि दो परमेश्वर हों तो जाति हो। क्योंकि एक से अधिक चीजों में जब रहे तो जाति हो। परमेश्वर तो अकेला ही है। कोई दूसरा परमेश्वर तो है नहीं। न उसमें गुण है न उसमें

जाति है। व्यापक है, अविक्रिय है इसलिये किसी क्रिया से उसे बताना बनेगा नहीं। 'असंगो ह्ययं पुरुषः' वह सम्बंधों से भी रहित है। यह तरीका भी उसे बताने में कारगर नहीं। अतः उसको बतलाने का उपाय क्या हो ? महर्षि भृगु ने वरुण से जाकर कहा—हमको ब्रह्मका उपदेश दीजिये। तो ब्रह्म को कैसे बताया जाये? महर्षि वरुण ने उनको जवाब दिया—'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति, यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद् ब्रह्म।' यद्यपि वास्तविक सम्बन्धादि कला परमात्मा नहीं है फिर भी उसका सम्बन्धादि प्रतीत होता है उसी के सहारे उसे शब्द द्वारा कह देते हैं। 'संसार का कारण' इस सम्बन्ध से बता दिया। ठीक है, उसका संसार से सम्बन्ध नहीं—संसार ही नहीं तो सम्बन्ध क्या होगा!—लेकिन समझ तो आता है कि सारा संसार है तो इसे बनाने वाला भी कोई है, कोई चलाता है, संसार खत्म होगा तो कोई बचेगा। इस समझे हुए सम्बंधादि से ही शब्द परमेश्वर का बोध करा देता है। जिससे यह सारा ब्रह्माण्ड पैदा होता है, जो सारी सृष्टि को उत्पन्न करने वाला है, जिसमें सारा संसार स्थित रहता है, अन्त में जिसके अन्दर सारा संसार लीन हो जाता है वह ब्रह्म है। ये उसके निशान बता दिये। जो सृष्टि, स्थिति, लय को करने वाला है वह ब्रह्म है।

जैसे यहाँ भगवान् ने कहा कि उसका अन्वेषण करना है, उसको ढूँढना है, ऐसे ही वरुण ने भी अपने पुत्र भृगु से कहा 'तद् विजिज्ञासस्व'जो सारी सृष्टि, स्थिति, लय को करने वाला है उसका पता लगाओ। इसी को यहाँ भगवान् ने कहा कि जिससे अनादिकाल से ये प्रवृत्ति फैली है अर्थात् सारी सृष्टि जिससे फैली है और जो इसको इकट्ठा करके हमेशा नियम से चलाता है उसी की शरण जाना है। प्राप्ति का तरीका क्या ? तो शरण जाना।

जिस समय भीष्म पितामह को बाणों के द्वारा बींध दिया उस समय उन्होंने विचार किया कि अभी उत्तरायण नहीं आया है इसलिये शरीर नहीं छोड़ूँगा। उस शरशैया पर पड़े-पड़े ही उन्होंने महाभारत युद्ध का नतीजा

भी सुन लिया। पाण्डवों की जीत भी सुन ली, युधिष्ठिर का राज्याभिषेक भी सुना लिया। वहीं पड़े-पड़े सब खबर रखते थे। अन्त में राज्याभिषेक होने के बाद युधिष्ठिर वहाँ आये और उनसे उनका अनुभव पूछने लगे। 'अब मैं राजा हो गया तो मुझे राजकार्य, धर्मकार्य सबके विषय में आप उपदेश दें।' भीष्मपितामह ने वहाँ धर्म-विषयक और राजनीति-विषयक उपदेश दिया। वह कई दिन तक चला। अंत में युधिष्ठिर ने प्रश्न किया 'परमेश्वर है और उसके बारे में अभी आपने कुछ नहीं बताया। अतः उसका हमको उपदेश दें।' थोड़ी देर तक भीष्म पितामह चुप रहे, फिर उन्होंने कहा 'देखो, वह चरम तत्त्व तो शिव है। उसका उपदेश मैं उतनी अच्छी तरह से नहीं दे सकता जितना कृष्ण दे सकते हैं।' भगवान् कृष्ण वहाँ उपस्थित थे। भीष्म ने कहा 'जैसी इन्होंने भगवान् शंकर की सेवा की है, शरण ली है, वैसी मैंने नहीं ली। इसलिये इस विषय में ये ही श्रेष्ठ वक्ता हैं। तुम इनसे ही प्रार्थना करो। जो तत्त्व विषयक बात मैं नहीं कहूँगा वह भगवान् कृष्ण ही कहेंगे। वही इसमें श्रेष्ठ वक्ता हैं।' उन्होंने भगवान् से भी कहा 'युधिष्ठिर जिज्ञासु है आप इसको शिवतत्त्व का उपदेश दें।' आगे उन्होंने कहा कि द्रोणाचार्य का पुत्र अश्वत्थामा भी भगवान् शंकर का बड़ा भक्त है। जब यह पाण्डवों को नष्ट करने के लिये जाने लगा तब इसने भगवान् शंकर का स्मरण किया। भगवान् शंकर का स्मरण करते ही भगवान् शंकर आ गये। इसने कहा—'मैं इन लोगों का नाश करने के लिये इसके पड़ाव के अन्दर जा रहा हूँ, आप बाहर रह करके रक्षा करना।' भगवान् शंकर ने उसी समय कहा 'देखो, कृष्ण और अर्जुन को छोड़ कर बाकी तो सबके लिये मैं तुम्हारी रक्षा करूँगा।' अश्वत्थामा ने पूछा 'क्यों?' उन्होंने कहा 'जैसी मेरी उपासना, जैसी मेरी शरण कृष्ण और अर्जुन ने ली है उसके सामने तुम्हारी कुछ नहीं है। औरों से तुम श्रेष्ठ हो लेकिन कृष्ण और अर्जुन से नहीं।' भीष्म पितामह ने कहा 'इस प्रकार स्वयं भगवान् शंकर ने ही कृष्ण

की अतिश्रेष्ठता बताई है। इसलिये इनसे उपदेश लो।'

युधिष्ठिर को बड़ा आश्चर्य हुआ। युधिष्ठिर ने भगवान् कृष्ण से पूछा 'आपने शरण कब ली थी, आपने इतनी तीव्र उपासना कब की थी?' तब भगवान् ने बताया : रुक्मिणी से तो भगवान् के पुत्र हुये लेकिन सत्यभामा से कोई पुत्र नहीं था, कोई सन्तति नहीं थी। सत्यभामा दुःखी रहती थी। क्योंकि स्त्री के यदि सन्तति नहीं होती तो उसको पूर्णता का अनुभव नहीं होता। जब सत्यभामा ने मेरे ऊपर बहुत जोर दिया तो मैंने कहा तेरे तो सन्तति केवल भगवान् शंकर की कृपा से ही हो सकती है। क्योंकि वे असम्भव को सम्भव करने में समर्थ हैं, बाकी कोई नहीं कर सकता। सत्यभामा ने कहा—'फिर आप वही करिये।' तब मैं केदारनाथ गया। अभी भी केदारनाथ से ऊपर स्थल है जहाँ उन्होंने तपस्या की। उपमन्यु वहाँ पर थे।

उपमन्यु भगवान् शंकर के बड़े भक्त हैं। भगवान् कृष्ण उपमन्यु के पास गये। उनको जब कृष्ण ने सारी बात बताई तब भगवान् शंकर के विषय में उपमन्यु ने पंचाक्षरी की दीक्षा दी और उनको वहाँ तपस्या करने के लिये कहा। पहले महीने में तो भगवान् कृष्ण एक समय भोजन करके रहे। फिर एक महीने तक केवल नक्त भोजन करके, रात को ही खा कर वहाँ रहे। बड़े विधि-विधान से सबेरे से शाम तक भगवान् शंकर की उपासना करते थे। सबेरे से शाम तक उसके सिवाय कोई कार्य नहीं था। कभी जप, कभी पूजा, कभी भगवान् के लिये पूजा की सामग्री तैयार करना। देवताओं के लिये बाजार से फूल लेकर पूजा करने का नहीं कहा है। खुद ही अपने बगीचे में फूल लगाये और उन फूलों से पूजा करे। जब किसी के घर जाते हैं जहाँ बहुत नौकर भी होते हैं वहाँ घर के मालिक नौकरों से नहीं बल्कि खुद आव-भगत करते हैं। क्यों? काम तो नौकर से भी कराया जा सकता है। प्रेम प्रकट करने के लिये वे ऐसा करते हैं। इसी प्रकार तुम बाजार से चीजें

खरीद लो, बाजार से मिठाई खरीद लो, भगवान् को भोग लगा दो। परन्तु यदि तुम्हारे अन्दर प्रेम होगा तो तुम्हारे मन में आयेगा कि मैं अपने हाथ से बना करके भोग लगाऊँ। अपने हाथ से ला कर उनको फूल चढ़ाऊँ। अपने हाथ से चन्दन घिस कर उनको लगाऊँ। बहुत साल पहले हम सोलन आये थे, शिमला के पास है। वहाँ सोलन के महाराजा दुर्गा सिंह जी भगवान् के बड़े भक्त थे। वे हमें अपने पूजा के कमरे में ले गये। उन्होंने कहा 'मैं इस कमरे में किसी को नहीं आने देता हूँ।' महाराजा ने बताया 'यहाँ पर पुताई भी मैं ही करता हूँ। दीवार में जो सफेदी करनी है वह भी मैं ही करता हूँ।' कभी यदि कोई जमीन नीचे चटक जाये, खराब हो जाये तो कारीगर बाहर खड़ा रहता था और वहाँ से कहता रहता था 'सीमेन्ट ऐसे मिलाओ, ऐसे करो' और जैसा वह कहे वैसा वे खुद करते थे। पूजा के कमरे में वे और किसी से काम नहीं करवाते थे। तो जितने परमेश्वर-सम्बन्धी कार्य हैं वे जब मनुष्य विधिपूर्वक करता है, प्रेमपूर्वक करता है तो खुद करेगा। भगवान् कृष्ण भी उसी नियम के अनुसार सारे कार्य करते थे—पूजा, पूजा के साधन, उपकरण सब खुद करते थे। एक समय का भोजन छोड़ कर केवल फलमात्र से उन्होंने एक महीना निकाला। केवल एक बार रात में फल ग्रहण करते थे। इस प्रकार एक महीना तप चलाया। फिर उसके बाद फल भी छोड़कर केवल पत्ते खाकर रहे। उसके बाद उन्होंने एक महीने के लिये पत्ते भी छोड़ दिये और केवल जल लेकर रहे। फिर एक महीना उन्होंने जल भी छोड़ दिया। अब केवल साँस मात्र के भरोसे रहे, वायुमात्र ग्रहण करते थे। अन्त में कुम्भक करके उन्होंने प्राणवायु भी लेना छोड़ दिया!

तब भगवान् प्रसन्न होकर उनके सामने प्रकट हो गये। उनके सामने शिव पार्वती दोनों प्रकट हो गये। भगवान् शंकर ने कहा—'तुम वरदान माँग लो।' भगवान् कृष्ण ने कहा—'आप कहते हैं माँग लो, अच्छा नहीं लगता।' जैसा आचार्य शंकर कहते हैं 'सर्वज्ञस्य दयाकरस्य भवतः किं वेदनीयं मया'

आप सर्वज्ञ हैं। कोई चीज ऐसी नहीं है जो आपसे छिपी हुई है। आप सब कुछ जानने वाले हैं इसलिये कहने की जरूरत नहीं है। कोई आदमी किसी बात को न जाने तो उससे कहा जाये। कई बार ऐसा होता है कि आदमी जानता तो है लेकिन कोई दूसरा माँगे तब दे। ऐसा भी होता है कि जानता है इसको जरूरत है लेकिन जा कर चार बार 'सेठ जी जरा ख्याल करो, सेठ जी जरा ख्याल करो' कहो तो जरा दिल पिघल जाता है और तब देते हैं। लेकिन आप तो दया के खजाने हैं। अतः यह नहीं हो सकता कि मैं जब कहूँ तभी आपको दया आये। अगर दया का खजाना भी कोई हो और सर्वज्ञ नहीं हो तो उसको नहीं पता है कि तुम्हारी क्या जरूरत है। अब दया का खजाना भी है और सर्वज्ञ होने से सब जानते हैं। आपके सामने मैं क्या प्रकट करूँ? भगवान् शंकर ने कहा कि 'तुमने इतनी तपस्या की तो कोई मतलब भी होगा।' कृष्ण ने कहा 'कुछ नहीं। आप मेरे परम अन्तरंग हैं, परम प्रिय हैं, आपका प्रेम ऐसा है कि आपका चिन्तन किये बिना मैं नहीं रह सकता। संसार के कार्यों में फँसा हुआ हूँ इस लिये नित्य निरन्तर आपकी शरण नहीं ले पाता। इसलिये निमित्त मिल गया तो मैं आपकी शरण लेने आ गया।' यह नहीं कहा कि सत्यभामा के लिये आया हूँ! परन्तु सत्यभामा की यह कृपा है कि उसने किसी भी निमित्त से मुझे मौका दिया कि मैं सर्वथा आपकी शरण में सब कुछ छोड़ कर रहूँ। आप हमारे परम अन्तरंग हैं। इसलिये हमेशा आपको ही सोचना चाहता हूँ और कोई प्रवृत्ति नहीं है। आपके संकल्प से जो कार्य सामने आये हैं वे करता हूँ। मैं हमेशा आपका चिन्तन करता हूँ क्योंकि प्रेम है। अब जिसने यह मौका सम्भव बनाया उसके बारे में आप सर्वज्ञ हैं, मैं क्या कहूँ? जो ठीक समझें आप करें।' यह है शरणागति। 'आप यह काम कर दें' यह तो शरणागति नहीं है। जो भी आप करेंगे वही हमको स्वीकृत है यही 'प्रपद्ये' का तात्पर्य है। भगवान् हँस पड़े। भगवान् ने कहा—'चलो, तेरे दस पुत्र हो जायेंगे और केवल

सत्यभामा से नहीं, बाकी जितनी हैं सबसे हो जायेंगे।' निमित्त तो सत्यभामा हुई लेकिन सबको मिल गया। पार्वती जी ने कहा 'शंकर जी ने तो दे दिया, कुछ मैं भी दूँगी।' अब पार्वती जी ने भी उनको वरदान दिया 'कभी भी तुम्हारे शरीर में बुढ़ापा नहीं आयेगा। कभी भी तुम्हारे शरीर में रोग आदि का विकार नहीं आयेगा।'

भगवान् ने युधिष्ठिर को बताया 'इस तरह संसार को, सृष्टि को उत्पन्न करने वाले की मैंने शरण ली। शिव और पार्वती ने अनेक आशीर्वाद दिये। इस प्रकार मैंने किया था इस लिये भीष्म पितामह कह रहे हैं कि मैं उपदेश करूँ।' उसके बाद उन्होंने युधिष्ठिर को भगवान् शंकर की उपासना का प्रकार, शिवसहस्रनाम के जप का तरीका इत्यादि सारा वर्णन और शिवतत्त्व का बड़ा विस्तृत वर्णन किया। खुद इस प्राप्ति को इस प्रकार किया था इस लिये कहते हैं 'प्रपद्ये' उनकी शरण लेकर मैंने प्राप्त किया। इसी प्रकार उनकी शरण लेने से ही उनका अन्वेषण होगा, और कोई प्रकार नहीं हैं।

प्रवचन—१२

भगवान् ने बताया कि जिस पद को प्राप्त कर फिर लौटकर जन्म-मृत्यु के इस प्रवाह में आना नहीं पड़ता उसकी प्राप्ति का उपाय है सारे संसार को जिसने प्रारंभ किया उस परम तत्त्वकी प्रपत्ति। परमेश्वर की शरण लेने की इतिकर्तव्यता क्या है? क्या करने से यह शरणागति सिद्ध होती है? जिसके करने से शरणागति सिद्ध हो सकेगी और जिसके नहीं करने से शरणागति का प्रयत्न व्यर्थ जायेगा वह इतिकर्तव्यता क्या है ? क्या साधन है? तब कहते हैं—

निर्मानमोहा जितसंगदोषा अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुखसंज्ञैः गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत्।।५।।

वह जो परम धाम है वह अव्यय है। वहाँ कभी किसी चीज में किंचिद् मात्र भी कमी नहीं आती। उसमें आनन्द की कभी कोई कमी नहीं है। जिस प्रकार मिश्री की डली को जिस किसी जगह से तुम चखोगे तो मीठी ही निकलेगी। नमक की डली को जहाँ कहीं से तुम चखोगे तो खारी ही निकलेगी। इसी प्रकार परमात्मपद को चाहे जहाँ से स्पर्श करो, सिवाय आनन्द रस के और कोई रस नहीं आना है। इस लिये कहा 'तदव्ययं पदम्' उसकी सच्चिदानन्दघनता में किंचिद् मात्र भी व्यय अर्थात् कमी नहीं होती।

प्रायः संसार में ऐसा होता है कि यदि धन बँटता है तो प्रत्येक के पास कम हो जाता है। बाप के पास लाख रुपये हैं, दो बेटे हैं। दो बेटों को बाँट देने पर हर एक को पचास हजार मिला। हर एक के पास एक लाख से कम हो गया। आगे उनके फिर अगर दो-दो बेटे हो गये तो पच्चीस-पच्चीस हजार रह गया। इसी प्रकार शंका होती है; वह परमात्मा आनन्दघन है उसके सिवाय अन्यत्र कहीं आनन्द नहीं है। फिर इस संसार के अन्दर हम जिस आनन्द का अनुभव कर रहे हैं वह आनन्द कुछ बँट रहा है। कुछ न कुछ आनन्द का स्वाद तो सब लोग ले ही रहे हैं। इस बँटने से उस आनन्दघन के अन्दर कुछ तो कमी आती ही होगी? इस शंका की निवृत्ति के लिये कह दिया कि वह अव्यय है। सारा ब्रह्माण्ड अनन्त काल तक उस आनन्द से अपने को परिपूर्ण कर ले फिर भी उस आनन्द में कोई कमी नहीं आनी है। इसलिये उसे अव्यय बतलाया।

परन्तु उसको प्राप्त करने के लिये मान और मोह को छोड़ना पड़ेगा, आसक्ति के दोष को जीतना पड़ेगा, कमनाओं से मुँह मोड़ना पड़ेगा, सुख और दुःख इन दोनों के प्रति अपने राग-द्वेष को छोड़ना पड़ेगा। निरन्तर अध्यात्मचिन्तन के द्वारा जब हम अपनी मूढता को, अपने अज्ञान को समाप्त कर देंगे तभी उसकी प्राप्ति होगी। प्राप्ति की यह इतिकर्तव्यताएँ बता दी गई हैं। सबसे पहले भगवान् ने कहा, निर्मान—मान-रहित। यह पन्द्रहवाँ

अध्याय है। इसके पहले भी भगवान् इन साधनों को कुछ विस्तार से व्यक्त कर चुके हैं। तेरहवे अध्याय में साधनों का प्रारम्भ किया 'अमानित्वम्, अदम्भित्वम्, अहिंसा, क्षान्तिः, आर्जवम्।' वहाँ भी मानको छोड़ने से ही प्रारम्भ किया। यहाँ पर भी—''निर्मान-मोहा'' मानको छोड़ने से ही शुरू किया। मानका अर्थ क्या है? मोटी भाषा में पहले समझ लेना चाहिए। जो अपनी चीज न हो, उस पर काबिज हो जाना—'मेरा कब्जा है इस लिये मैं मालिक हो गया', बस इसी भाव का नाम मान है। चीज अपनी है नहीं, परन्तु हम मान लेते हैं यह मेरी है। यह शरीर मेरा है। यदि कोई कहता है 'शरीर तू नहीं', तो कहोगे, 'कैसे हो सकता है? शरीर नहीं तो मैं क्या?' मान लो तुमने कोई मकान बनाया। तुम्हारा मकान है हम तुमसे पूछते हैं—'उस मकान में कितने कमरे हैं?' तो तुम झट से बता देते हो 'तेरह कमरे हैं। सात सोने के कमरे हैं।' सब तुमको पता है। 'तुम्हारे मकान का दरवाजा किधर है ?' तो झट बतला दोगे 'पूर्व में है, पश्चिम में है,' जिधर है बता दोगे। 'तुम्हारे मकान में किस रंग का रोगन किया हुआ है, पुताई की हुई है?' तो झट बता दोगे, क्योंकि तुमने मकान बनाया है, तुम्हारा मकान है। दूसरी तरफ मकान तुम्हारा है नहीं, परन्तु किसी प्रकार से चाभी तुम्हारे हाथ में आ गई और तुम मालिक बन गए। कुछ साल पहले देहरादून में एक कलेक्टर थे। वे चले गये तीन महीने की छुट्टी लेकर। वहाँ कोई चतुर आदमी था। उसने उनके मकान को बेच दिया, सरकारी मकान ! यह तो भारत सरकार है, सब कुछ सम्भव है। हमारे एक परिचित सज्जन हैं, वह कहते हैं—खरीददार हों तो मैं राष्ट्रपति भवन बेच दूँ। उसने तो कलेक्टर का ही मकान बेचा है। जब कलक्टर वापस आए और घर में घुसने लगे, लोगों ने पूछा 'आप कौन हैं?' वे ऊपर-नीचे देखकर बोले 'तुम लोग कौन हो ?' उन्होंने—'हमने तो मकान खरीदा है, मकान-मालिक हैं। तुम कौन हो? घर में घुसे जा रहे हो।' बोले—'तुमने कैसे खरीद लिया? यह तो गवर्मेन्ट

प्रोपर्टी है। मैं कलेक्टर हूँ, मेरा मकान है।' उन्होंने कहा–'जी हमारी रजिस्ट्री हुई है, मकान तो हमारा है।' जिसने बेचा है उसे जब अदालत में बुलाकर पूछा जायेगा, तो वह क्या सारी बातें ठीक बता पाएगा? क्योंकि उसने तो झट दो चार आदमी भेजे, समान निकलवाया, किसी को बेचा, जल्दी में काम निपटाया। हर चीज में कहेगा कि जी सोचकर बताऊँगा। तो तुमको पता लग जायेगा, इसका बनाया हुआ मकान नहीं है। यदि तुम्हारा मकान है, तुम्हारा बनाया है, तो तुमको मकान का पता होगा। तुम्हारा नहीं है, तो तुमको उसका पता नहीं हो सकता है।

अब विचार करो, तुम कहतें हो यह शरीर हमारा है, निश्चित रूप से हमारा है। परन्तु क्या शरीर में होने वाली सौ में दस बातों का भी तुमको पता है? 'क्या बतावें जी, थोड़े दिन से पेट में कब्जी हो रही है।' कहाँ हो रही है? मेरे पेट में हो रही है। तुम ही न इस पेट के मालिक हो, क्यों कब्जी हो रही है? तुमको तो पता ही होगा! कमर में दर्द हो रहा है। क्यों हो रहा है? पता नहीं क्यों हो रहा है। भोजन करते हो, पच जाता है कैसे पचता है? पता नहीं। इस शरीर की दस प्रतिशत चीजें भी ऐसी नहीं जिनका तुम्हें पता है। और फिर तुम कहते हो, 'इस मकान के मालिक हम हैं' तो केवल कब्जे के कारण ही मालिक बने हुए हो। अगर तुम्हारा होता, तो तुमको इसकी सारी चीजों का पता होता। जो शरीर का हाल, उससे भी गया बीता मनका हाल। 'आज रात में पता नहीं क्यों, नींद ही नहीं आई। कहाँ-कहाँ की बातें मनमें याद आती रहीं, चिन्ता सताती रही?' मन किसका है? मेरा है। पक्की बात? पक्की बात। फिर तुमको पता होना चाहिए, तुम्हारे मन में कौन-कौन सी बातें आई, कहाँ से आई! इस शरीर का, मनका तुमको कुछ नहीं पता और कब्जा किये बैठे हो, बस इसी का नाम मान है जो चीज अपनी नहीं और कब्जा किये बैठे हो। जब उसे अपना मान लिया, तो उसमें होने वाले गुण-धर्मों को भी अपने पर आरोपित कर लेते हो। मैं बड़े उत्तम

ब्राह्मण कुल में पैदा हुआ हूँ। शरीर में रहने वाले ब्राह्मणपने को अपने ऊपर लाद लिया। सामने वाला निकृष्ट चाण्डाल के घर पैदा हुआ है। उसके ऊपर उसका शरीर लाद दिया, जो आत्माका स्वरूप नहीं। इस प्रकार आगे बढ़ता जाता है। अगर हम जरा पढ़ लिख गये, तो विद्वान् बन गये। मनका धर्म लाद लिया। पैसा कमा लिया, तो वह लाद लिया, हम धनी हो गये। इस मान के कारण आदत पड़ गई : जो चीज़ अपनी नहीं है, उसे अपनी कहने की आदत पड़ गई है।

एक कदम और आगे जाता है। अपने पास पाँच-सात लाख रुपये हैं। दो लड़कियाँ हैं। एक-एक लाख उनकी शादी पर खर्च करें तो ठीक है। परन्तु पड़ोस में मेरा दोस्त है, उसके पास पन्द्रह लाख है। इस लिये वह अपनी लड़की के ऊपर पाँच लाख खर्च करता है। हमारे पास है तो एक लाख खर्च करने की सामर्थ्य, लेकिन मैं मान लेता हूँ कि 'उससे घटकर कैसे रहूँ?, मैं भी पाँच लाख खर्च करूँगा।' कर्जा लेकर जितना दुःखी होता रहूँ, परन्तु इस समय में तो मैंने मान कर लियां है, इसके जैसा ही करना है। जैसे विवाहादि वैसे ही वेषभूषा भी। आदमी कपड़े पहनता है, जैसे कपड़े मैं नहीं पहन सकता हूँ, वैसे कपड़े पहनता हूँ। पाँच सौ रुपये के कपड़े पहनने की सामर्थ्य वाला, पाँच हजार का कपड़ा पहनता है क्योंकि 'कहीं जाऊँगा, तो वहाँ मेरे को सम्मान मिलेगा, इज्जत मिलेगी।' भाषा : अगर हमें पाँच-सात अंग्रेजी के शब्द आते हैं और कहीं बात-चीत होगी तो वे अंग्रेजी के शब्द बीच में जरूर बोलने हैं। लोगों को पता लगे, मुझे भी अंग्रेजी आती है। भाषा के द्वारा अपनी श्रेष्ठता बतलाते हैं। तो पहले जिन पर हमारा कब्जा है उन शरीर मन आदि का मान किया, फिर उस शरीर मन आदि में होने वाले जो गुण हैं उनको अपने ऊपर लगा लिया। अब आदत पड़ गई तो जो धन मेरे पास नहीं है, वह धन दिखाऊँ, जो भाषा मेरे पास नहीं है वह भाषा दिखाऊँ, जो कपड़ा मेरे पास नहीं है वह कपड़ा दिखाऊँ। सब जगह

विचार यही है कि लोग मेरे को पूज्य समझें।

एक बार हम कहीं पर थे। वहाँ कोई गृहस्थ था, उसने कोई गलत काम कर दिया तो स्थान वाले महात्मा को गुस्सा आ गया। कोई बात नहीं, आ जाया करता है। उन्होंने उसको गाली-गुप्ता दे दिया। बहुत से लोग बैठे हुए थे। वह आदमी चला गया, वे शान्त हो गये। शाम के समय आरती के बाद साथ बैठे हुए थे कहने लगे, 'आज बहुत से लोग बैठे थे,' दो-चार के नाम गिनवाये जो जरा खास आदमी थे, 'उनके सामने मुझ से बड़ी गलती हो गई। उनके सामने तो मुझे गुस्सा नहीं करना चाहिए था।' हमने कहा—'भले आदमी ! तुम्हें इस बात का दुःख नहीं है कि क्रोध क्यों किया। तुमको तो चिन्ता इस बात की हो रही है कि लोगों को और खासकर विशिष्ट लोगों को पता चल गया, कि मुझे गुस्सा आता है।' दुःख उनको इस बात का नहीं था कि गुस्सा आ गया। दुःख तो इस बात का था, कि जिनको पता नहीं चलना चाहिए, जो मुझे पूज्य समझ रहे हैं, उनको पता चल गया कि मुझे गुस्सा आता है। हमने कहा—'अरे! वे दो-चार थे तो क्या, नहीं थे ते क्या! वे क्या कर सकते हैं ? ज्यादा से ज्यादा तुमसे दस-पाँच दिन बोलेंगे नहीं। दो-चार दिन भण्डारा नहीं कराएँगे! और क्या करेंगे वह तुम्हारा ? परन्तु क्रोध जब तुमने कर लिया तो तुम्हारे हृदय में बैठा हुआ जो आत्मदेव है, उसका क्या हुआ ?' मान बार-बार प्रवृत्ति कराता है कि लोग मुझे श्रेष्ठ समझें। मैं श्रेष्ठ बनूँ—यह नहीं; लोग मुझे श्रेष्ठ समझें। जब इस प्रकार का मान होता है, तो मनुष्य की आध्यात्मिक उन्नति नहीं हो सकती। क्योंकि यहाँ तो जो मेरा अपना स्वरूप है, उसकी प्राप्ति होनी है, जो कुछ ऊपर से आया है, उस सबको हटाना है। इस प्रकार मान और मोह को जो हटा देता है वह आत्मा को पा सकता है।

किससे हटाएगा? भगवान् ने साधन को बीच में रखा है ''निर्मान-मोहाः, जितसंगदोषाः' एक तरफ रखा और 'विनिवृत्तकामाः, द्वन्द्वैर्विमुक्ताः' दूसरी

तरफ रखा। बीच में रखा है—'अध्यात्मनित्याः'। इसे हमारे यहाँ संस्कृत में—''देहली दीपक न्याय'' कहते हैं। आजकल दीपक नहीं होता। कई जगह पर लोग जब इकट्ठे कई नहाना घर बनाते हैं तो उनके बीच में छोटी सी जगह छोड़कर वहाँ लट्टू लगा देते हैं जिससे दो नहाने घरों में रोशनी हो जाती है। इसी प्रकार यहाँ 'अध्यात्मनित्या' का दोनों से सम्बन्ध है। मान मोह को कैसे जीतना है? अध्यात्म-ज्ञान की नित्यता से जीता जाता है। आत्मा के बारे में जो होता है उसे अध्यात्म कहते हैं। आत्मा के स्वरूप में जो निरन्तर स्थित रहेगा, वह मान-मोह, संग-दोष इनको जीत सकेगा। इनको जीतने के और उपाय भी हो सकते हैं परन्तु जो परमात्मा की प्राप्ति के मार्ग पर जाना चाहता है, उसके लिए तो अध्यात्मनित्यता ही मार्ग है। आसक्ति जीतने के विवेक आदि अन्य साधन भी हैं परन्तु यहाँ प्राप्ति की इतिकर्तव्यता बतला रहे हैं; परमात्मा की शरण में तो वही जा सकेगा जो अध्यात्मनित्य होगा।

अध्यात्मनित्यता का क्या मतलब ? अपमे स्वरूप को हमने गुरु से या शास्त्र से जाना। अपना स्वरूप क्या है? एक क्षण भी ऐसा नहीं, जब मैं कुछ न कुछ जानता नहीं। एक क्षण भी ऐसा नहीं, जब मुझे अपना आपा प्रिय नहीं। मैं नहीं होऊँ, ऐसा कभी हो नहीं सकता। ऐसा अपना सच्चिदानन्द रूप है। ऐसा होने पर भी, लगता नहीं कि मैं ऐसा हूँ। श्रुतिने परमात्मा की अद्वितीयता का ही प्रतिपादन किया है, अखण्डता का ही प्रतिपादन किया है। इसलिये उसको सुनकर आपाततः, जिसे कचहरी के शब्दों में 'प्रथमदृष्ट्या' कहते हैं, लगता है कि परमात्मा का स्वरूप जो श्रुतियों ने कहा है, वह ठीक होना चाहिये क्योंकि श्रुतियों ने बार-बार कहा है। यदि कोई व्यक्ति बार-बार :किसी भी बात को कहता है तो निश्चय हो जाता है कि यह आदमी इस बात को कहना चाह रहा है। जिस चीज को बार-बार कहा जाये, उसमें तात्पर्य होता है। अनुभव तो नहीं हो रहा है लेकिन लगता

है। आदमी इस निर्णय पर पहुँचता है कि अद्वितीयता बतलाना ही, सब कुछ परमात्म स्वरूप है यह बतलाना ही श्रुतियों का तात्पर्य है। अब आपात रूप से जो प्रतीति हुई है, उस प्रतीति को साक्षात्कार में बदलना है। प्रायः क्या होता है? सुन तो लिया कि मैं शिवस्वरूप हूँ पर लगता नहीं है। मैं आनन्द-स्वरूप हूँ, मैं ब्रह्मस्वरूप हूँ पर लगता नहीं। मैं कैसे मान लूँ? कई लोग कह भी देते हैं 'अरे! जब तक तुम शुद्ध नहीं हुये तब तक अपने को ब्रह्म कैसे मानोगे ?'

विचार करके देखो : तुमको चाँदी की तरह सींप दिखी। चाँदी की तरह वाला हिस्सा तो झूठ है, गलत है। उसका तो बाध हो जायेगा। परन्तु सींप दिखी यह तो सच्ची बात है। ठीक से समझ लेना—सींप चाँदी की तरह दिखी। इसमें चाँदी की तरह दीखना तो गलत है, वह हट जायेगा पर चाँदी की तरह दीखा कौन ? सींप दिखी। यह बात वैसी ही रहेगी। उसी प्रकार परब्रह्म परमात्मा हमको जीव रूप से दीखा। जो अपरिच्छिन्न है वह हमें परिच्छन्न रूप से दीखा। जो शुद्ध है वह हमें अशुद्ध रूप से दीखा। जो आनन्दस्वरूप है वह हमें दुःख रूप से दीखा। दुःख रूप से दीखा यह तो झूठा है, परन्तु आनन्द तो दिखा। अशुद्धरूप से दीखा यह तो गलत है परन्तु दीखा तो शुद्ध ही है। इसी प्रकार अपरिच्छिन्न ब्रह्म जिस रूप में दीखा उस धर्म का बाध हो जायेगा पर धर्मी का तो बाध नहीं होगा। विचार करके देखो। आप लोग आते हो, राजराजेश्वर के दर्शन करते हो, भगवान् शंकर के दर्शन करते हो, नमस्कार करते हो। किसके दर्शन करते हो ? भगवान् शंकर के दर्शन करते हो। तुमको आँख से क्या दीख रहा है? आँख से तो पत्थर ही दीख रहा है लेकिन उसको देखते हुये तुम निश्चय करते हो कि ये भगवान् हैं इस लिये उनको जल चढ़ाते हो और समझते हो भगवान् पर चढ़ा है। तुम्हारा जानना ठीक ही है क्योंकि इसके पहले भगवान् ने खुद कहा है—

'पत्रं पुष्पं फलं तोयं यन्मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतम् अश्नामि प्रयतात्मनः।।'

भगवान् ने कहा—तुम पत्ता चढ़ाओ, फूल चढ़ाओ, फल चढ़ाओ, पानी चढ़ाओ मैं साक्षात् ग्रहण करता हूँ, खाता हूँ। ऐसा नहीं समझ लेना कि हमने जल चढ़ाया है वह तो बह कर चला गया। यद्यपि आजकल के लोग ऐसा समझ लेते हैं। दिल्ली में भगवान् शंकर का अभिषेक होता है। सवा मन दूध से अभिषेक हो गया, कभी नारंगी के रस से अभिषेक हो गया। कई बार लोग आकर पूछते हैं कि 'यह सब अभिषेक बेकार चला जाता है। अगर लोगों को पिला दिया जाये तो ठीक हो।' तब उनसे कहते हैं 'ऐसा ही समझ लो भाई!' क्योंकि वे इस बात को नहीं समझ रहे हैं कि 'तदश्नामि' भगवान् ने खाया। पर भगवान् के खाने का ऐसा तरीका है कि वे साक्षात् नहीं दिखाते हैं। जब चढ़ाया जाता है तो वे ही खाते हैं। भगवान् की यह विचित्र आदत है कि हर चीज को इस ढंग से करते हैं कि तुम समझो कि साधारण बात है।

एक आदमी तकादा लेने के लिये कहीं गया हुआ था। किसी से रुपया पाना हो, लेना हो तो कहते हैं तकादा लेने गया है। पहाड़ी मामला था, सावन का महीना था। तकादा लेकर वापस आया तो उसके पास काफी रुपये थे। इस बीच पानी बरस गया था। घर जाने का जो रास्ता था, उसमें अकस्मात् बड़े जोर से नाला बहने लग गया। पहाड़ी नाला बहता है, घण्टे दो घण्टे में बन्द हो जाता है, इसलिये उसके ऊपर कोई पुल तो बनाता नहीं है, घण्टे दो घण्टे में पानी बरसना बन्द होना है। वहाँ पहुँचा तो बड़े जोर से नाला बह रहा था। उसने सोचा कि शाम का समय हो गया है, पास में बहुत रुपया भी है, कहीं चोर-डाकू आ गये तो क्या करूँगा! उसने रुपये तो अपनी छाती पर बाँध लिये और 'जय हनुमान् जी आप रक्षा करना, अगर मैं पार हो गया तो मैं आपको एक सौ एक रुपये के लड्डू चढ़ाऊँगा'

कहकर, हिम्मत करके पानी के अन्दर घुसा। धीरे-धीरे छाती के नीचे-नीचे तक पानी आया। जहाँ उसने रुपये बाँध रखे थे वहाँ तक नहीं पहुँचा। आधा नाला पार हो गया। अब जरा साँस में साँस आई क्योंकि पानी जरा कम होने लगा था। वह कहने लगा– 'हनुमान् जी, आजकल बड़ी मँहगाई का जमाना है, एक सौ एक रुपया तो नहीं इक्यावन रुपया तो चढ़ा ही दूँगा।' आगे गया, अब पानी जाँघ के नीचे तक आ गया इस लिये और हिम्मत आई और कहने लगा 'हनुमान् जी इक्यावन रुपये तो बहुत होते हैं, ग्यारह रुपये के लड्डू चढ़ा दूँगा।' अब बिल्कुल किनारे के पास आ गया और पानी खाली पैर के ऊपर का जो टखना होता है, वहाँ तक ही रह गया। कहने लगा–'ये देवी, देवता कहीं आते-जाते नहीं हैं, कोई हनुमान् जी तो मदद करने आये नहीं, मैं ही हिम्मत करके पार कर आ गया।' शाम का समय था। जहाँ टखने जितना पानी था वहाँ एक चट्टान थी जिसके और किनारे के ठीक बीच में गहरा गड्ढा था। वह समझ रहा था कि पार हो गया, ये देवी-देवता कुछ नहीं कर सकते हैं इस लिये क्या चढ़ाना है! ऐसा सोचते हुये अगला जो पैर पड़ा वह सीधे चट्टान के नीचे वाले गड्ढे में पड़ा। धार तेज थी, बह गया। भगवान् हमारी मदद करते हैं तो ऐसी छिपकर करते हैं कि हमको नहीं लगता है। इसी प्रकार ''अश्नामि'' भगवान् खाते हैं परन्तु हमको लगता है यह तो बह रहा है।

विचार करो–जब हम भगवान् पर चढ़ा रहे हैं, तो हमको पत्थर दीख रहा है, हमको बहती हुई धारा दीख रही है। परन्तु हमको यह दृढ विश्वास करना है कि भगवान् पर चढ़ रहा है, पत्थर पर नहीं। भगवान् इसको खा रहे हैं यह विश्वास करना है। यदि कोई कहे कि 'हमको भगवान् खाते दीखें तो हम मानें नहीं तो नहीं मानें' तो व्यर्थ बात है। भगवान् को तो कुछ फर्क पड़ता नहीं है, तुम मानो या नहीं मानो लेकिन न मानने से तुम्हे फर्क पड़ जायेगा, पुण्य नहीं कमा पाओगे, मन शुद्ध नहीं कर सकोगे। इसी प्रकार

हमारे अन्दर जो अहं जीव है वह अनित्य दीख रहा है, परिच्छिन्न दीख रहा है, अज्ञानी दीख रहा है, दुःखी दीख रहा है, ऐसा सब दीख रहा है परन्तु हमको यह निश्चय करना है कि यह साक्षात् ब्रह्म ही है। इस प्रकार जब निश्चय करते हैं तब अध्यात्मनित्यता होती है।

जो अद्वैत आपाततः समझ आता है वही भली प्रकार से निश्चय करने पर, विचार करने पर स्वप्रकाश चैतन्य रूप हो जाता है। जब अच्छी प्रकार विचार के द्वारा बार-बार उसका अनुसन्धान करके, बार-बार अध्यात्मभाव को बना कर जब प्रयास करते हैं तभी निष्ठा होती है। अध्यात्मनित्य होने से यह निश्चय हो जाता है कि शरीरादि धर्म मेरे नहीं हैं, मैं तो केवल शुद्ध शिवमात्र हूँ उससे अतिरिक्त मेरी कोई सत्ता नहीं है। ऐसा होने पर फिर किसी चीज के साथ संग भी नहीं होता है।

उत्तानपाद राजा के दो पत्नियाँ थीं, सुनीती और सुरुचि। सुनीती से ध्रुव उत्पन्न हुये और सुरुचि से उत्तप। जहाँ सौते होती हैं वहाँ आपस में झगड़ा भी चलना ही है। एक बार उत्तानपाद सुरुचि के लड़के को गोद में लेकर बैठे हुये थे और सुरुचि भी वहाँ थी। तब तक ध्रुव आ गये। वह भी बच्चा था। बाप की गोद में भाई को बैठे देखकर कहने लगा, 'मैं बैठूँगा, मैं बैठूँगा।' बच्चों के अन्दर स्वाभाविक होता है। सुरुचि ने डाँट दिया 'तू नहीं बैठ सकता। मेरे से पैदा हुआ होता तो बैठता।' ध्रुव के मन में बड़ी चोट लगी। जाकर माँ से भी कहा। माँ ने कहा–'तुम्हारे पिता उसकी तरफ ज्यादा ध्यान देते हैं, तू चिन्ता नहीं कर, तेरा भगवान् है।' 'भगवान् कैसे मिलेंगे?' 'तपस्या से मिलेंगे।' ध्रुव चल दिया। वहाँ से चलने पर रास्ते में देवर्षि नारद मिले। पहले तो नारद ने समझाने का प्रयत्न किया–अरे विचार कर, छोटी सी बात के लिये क्यों परेशान होता है! उस उम्र में भी ध्रुव की कैसी बुद्धि है, कहता है'आपने जो शम का अभ्यास बताया, मन को रोकने का अभ्यास बताया, वह आपने बिल्कुल ठीक बताया इसमें कोई संदेह नहीं

है। आप ऋषि हैं, आपकी कही हुई बात कैसे गलत होगी? परन्तु मुझ पर काम नहीं करेगी। आपकी बात ठीक होने पर भी मैं अभी विनय में इतना कुशल नहीं हुआ हूँ कि जिस किसी भी बात को सहन कर जाऊँ। क्षत्रिय का बेटा हूँ इस लिये मैं क्षात्र-भाव को प्राप्त हुआ हूँ। क्षत्रिय से जल्दी बात सहन नहीं होती। ''मेरे पेट से पैदा होते तो बैठते''—सुरुचि के ये दुर्वचन बाणों की तरह मेरे मन को तीखे लगे। मेरा हृदय भिन्न हो गया है, टूट गया है इसलिये आपने जो शम की बात कही वह मेरे हृदय में स्थिर नहीं हो पाती है। अतः मुझे तो राज्य की प्राप्ति का उपाय बताइये।' नारद जी ने उसे कह दिया कि अमुक जगह यमुना के किनारे जाकर भगवान् का भजन करो। भजन करने का तरीका भी बतला दिया।

ध्रुव ने भी जाकर घोर तपस्या की। तप ही संसार में कठिन से कठिन चीज को प्राप्त करने का साधन है। जब उसने तपस्या प्रारम्भ की तो हर तीन दिन के बाद केवल कैथ और बेर खाकर रहा। इस तरह एक महीना बीत गया। फिर दूसरे महीने में हर तीसरे दिन की जगह हर छठे दिन और अब कैथ, बेर भी छोड़कर केवल घास, तृण,पत्ते वे भी हरे नहीं बल्कि सूखे। इस प्रकार करते हुये वह भगवान् की अर्चना में, पूजा में, ध्यान में लगा रहा। तीसरा मास शुरू होने पर अब छठे दिन भी नहीं बल्कि नवें दिन ग्रहण करने लगा और नवें दिन भी क्या लेता था? केवल जल ग्रहण करता था। चौथे महीने में अब नौ दिन भी नहीं, बारह-बारह दिन पर ग्रहण करने लगा। लेकिन अब जल भी छोड़ दिया! अब बारह-बारह दिन बिना हिले-डुले खड़ा रहता था।

ऐसी घोर तपस्या देखकर देवताओं ने भगवान् विष्णु से कहा—'महाराज अब इसकी तपस्या का फल दिये बिना काम नहीं चलेगा।' भगवान् वहाँ गये। उस समय वह साँस को रोककर हृदय में ध्यान कर रहा था इस लिये भगवान् के आने पर भी उसको पता नहीं चला। वह तो हृदयकमल के अन्दर

भगवान् के बिजली की तरह कौंधने वाले रूप को देख रहा था। जब भगवान् ने देखा कि इसको मेरे आने का भी पता नहीं चला तो उन्होंने वह हृदय वाला रूप तिरोहित कर दिया। हृदय में उस रूप के न दीखने के कारण स्वभावतः उसकी आँख खुली। आँखें खुलते ही हृदय में दीखने वाला रूप सामने दिखाई दिया! उसने भगवान् की स्तुति की। स्तुति के अन्त में भगवान् ने कहा तू कुछ वरदान माँग ले।' उसने कहा-- 'आपके दर्शन हो गये, अव क्या वरदान माँगना है?' अन्त में भगवान् ने ही उसको कहा—'हे उत्तानपाद राजा के बालक ! तेरे हृदय में पहले जो निश्चय था वह मुझे पता है इस लिये वह मैं तुम्हें देता हूँ।'

जैसे हृदय में ध्यान करने के बाद ही ध्रुव को भगवान् का स्वरूप बाहर दीखा वैसे ही ''मेरा स्वरूप सच्चिदानन्दघन ब्रह्ममात्र है, इसके अतिरिक्त कुछ नहीं है'' इसको पहले हृदय कमल के अन्दर देखने से ही अन्त में जब यह पक जायेगा तब जैसे आँख खोलकर सामने उसको विष्णु भगवान् दिखाई दिये वैसे ही आँख खोलकर यह सारा संसार वासुदेवमय दीखने लग जायेगा। इसके लिये होना पड़ेगा अध्यात्मनित्य क्योंकि जब तक संदेह हटाकर निश्चय पर लम्बे समय तक टिकने का अभ्यास नहीं होगा तब तक आपाततः हुआ ज्ञान कोई फल उत्पन्न नहीं कर पायेगा। इस अभ्यास के लिये सुख-दुःख दोनों छोड़ने पड़ेंगे। सुख मिले, दुःख न मिले—यह चिन्ता करता तो ध्रुव क्या तप करता ? हम लोग तो एकादशी का व्रत आता है उसी में कहते हैं—'कुछ फलाहार तो कर लें, आलू उबालकर ले लें, कुट्टू की पूड़ी लें।' फिर कहते हैं—'महाराज! इतने साल से कर रहे हैं लेकिन अभी कोई उन्नति नहीं हो रही है!' इसलिये कहा—'द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञैः' जैसे ध्रुव सुख, दुःख, संग और कामनाओं से निर्मुक्त होकर, निवृत्त होकर तप में लगा वैसे ही जब साधक अध्यात्मनित्य होकर तत्पर होता है तभी उस अव्यय पद की प्राप्ति होती है।

प्रवचन—१३

भगवान् ने बताया कि मान, मोह, सुख, दुःख, द्वन्द्व, कामनाओं आदि को छोड़कर अध्यात्मनित्य होने पर पुनः यहाँ नहीं आना पड़ता है। यहाँ न आकर, कहाँ जाते हैं? कहते हैं—

न तद् भासयते सूर्यो
न शशाङ्को न पावकः।
यद् गत्वा न निवर्तन्ते।
तद् धाम परमं मम।।५।।

जहाँ जाकर लौटना नहीं पड़ता वह मेरा परम धाम है।

जहाँ कोई स्वाभाविक रूप से रहता है वह धाम होता है। आजकल की भाषा में परमानेन्ट एड्रेस। अस्थाई रूप से, टेम्परी रूप से आदमी कहीं अन्यत्र जायेगा परन्तु वापस लौटकर वहीं आ जायेगा। स्वाभाविक रूप से जहाँ रहते हैं उसको धाम कहते हैं। जो परमात्मा का धाम है, जहाँ परमात्मा सामान्य रूप से रहते हैं वह कौन सा है? क्या वह कोई देशविशेष है? कोई ऐसी जगह है जहाँ वे चले जाते हैं और फिर आ जाते हैं? यदि किसी देश विशेष में रहेंगे तो उनकी सर्वव्यापकता नहीं हो सकती और यदि सर्वव्यापक नहीं होंगे तो सबका शासन भी नहीं कर सकते क्योंकि कोई व्यक्ति क्या कर रहा है यह जब तक खुद वहाँ न हों तब तक निर्णय नहीं कर सकते हैं। अगर किसी के कहने से करेंगे तो वह व्यक्ति राग-द्वेष के कारण गलत खबर भी दे सकता है। अगर उसके ऊपर एक और आदमी बैठा देंगे तो इसका कोई अन्त नहीं है। जिस प्रकार प्राचीन काल में हम लोगों को इतने पुलिसों की जरूरत नहीं पड़ती थी। अंग्रेजों के समय में भी दो ही पुलिस होते थे—एक सामान्य पुलिस और एक खुफिया, सी.आई.डी.। इस समय

करीब-करीब सत्रह भिन्न-भिन्न पुलिस के विभाग हैं ! परन्तु इतने पर भी नियन्त्रण नहीं हो पा रहा है। क्या कारण है? यदि अंग्रेजों के पहले के बारे में सोचें तो दक्षिण भारत में विजय नगर साम्राज्य में जब पोर्तुगीज और स्पेनियर्ड्स् आये थे तब उन्होंने कहीं भी किसी भी मकान में ताला नहीं पाया। क्या कारण था ? हम लोगों ने प्रत्येक के हृदय में पुलिस मैन को बैठा दिया था। अन्तरात्मा बैठी हुई थी जो गलत काम करने पर रोक देती थी। मनुष्य के अन्दर बैठा रहने वाला कर्तव्य-अकर्तव्य का विवेक चूँकि हर मनुष्य के हृदय में बैठता है, अतः उससे छिपकर कुछ भी नहीं किया जा सकता है। जब हमने उसको हटा लिया, सारा वातावरण बना दिया 'मरकर आगे किसने देखा है ? बस इस संसार में ही जो है सो है।' जैसे ही वह धर्म अन्दर से चला गया वैसे ही पुलिस के सत्रह विभाग करने पर भी अपराध नहीं रुक रहे हैं। तो नियम यह हुआ कि जहाँ पर कोई गलती कर रहा है वहीं पर बैठा होगा तो रूकावट आयेगी और वहीं जो बैठा होगा यदि वह दण्ड देने में समर्थ है तो दण्ड भी दे देगा। उससे कुछ भी छिप नहीं सकेगा। यदि परमेश्वर सर्वव्यापक नहीं होगा, किसी एक देश में रहने वाला होगा, किसी अन्य प्रकार से दण्ड देने वाला बनेगा, तो कभी भी पूर्ण न्याय के साथ परमेश्वर का काम नहीं कर सकेगा। इस लिये यह तो कह नहीं सकते कि वह धाम किसी देश में है।

तब वह धाम क्या है? यहीं संसार में रहते हुये भी वह उसका धाम हो जाता है। जिस प्रकार मंद अंधकार के कारण रस्सी में हमको साँप दीख गया। साँप का क्या धाम है? रस्सी ही है। जब कभी मंद अन्धकार होने के कारण हमारे विशिष्ट संस्कार जागते हैं तो रस्सी में से साँप निकला हुआ प्रतीत होता है। रस्सी अपने स्वरूप को छोड़कर साँप नहीं बनती है परन्तु जितनी देर तक साँप दीखता है उतनी देर तक रस्सी साँप के रूप में प्रकट हुई है। उसका धाम रस्सी ही रहती है। इसी प्रकार परमात्मा सारे संसार

के पदार्थों के अन्दर, जीवित लोगों के अन्दर, जड और चेतन सर्वत्र उनको सत्ता-चित्ता देने के लिये मानो बाहर आता है और व्यवहार के खत्म होने पर पुनः वह अपने स्वरूप में ही है। जैसे मन्द अन्धकार होने के कारण रस्सी से साँप निकला और रोशनी आने पर साँप वापस रस्सी में लीन हो गया। इस लिये भगवान् कहते हैं वह मेरा परमधाम है। परमता समझाते हुए कहा कि उसको सूर्य प्रकाशित नहीं करता है। मन्दिर में अंधेरा होता है, चारों तरफ से बन्द जगह होती है। पुराने मन्दिरों में बिजली तो लगाते नहीं थे और लालटेन भी नहीं ले जाते थे। इसलिये वहाँ दीपक जलाते थे और तब मूर्ति दीखती थी। दक्षिण भारत में यदि जायेंगे तो वहाँ अभी भी मन्दिरों में प्रायः बिजली नहीं है और जैसा हमारे एक परिचित सज्जन कह रहे थे—दक्षिण भारत में लोग भी काले होते हैं और मूर्तियाँ भी काली होती हैं। एक तो अँधेरा गर्भगृह और उसमें काले रंग की मूर्ति। तो दीखे कैसे? जो वहाँ की परम्परा को नहीं जानते, वे तो वहाँ आँख गड़ाकर देखते हैं। तरीका यह है कि जैसे ही वहाँ जाते हैं वैसे ही पुजारी से कहते हैं कि मेरी तरफ से कर्पूर आरती कर दो। जो भी वहाँ का बँधा हुआ होता है वह उसको दे दिया जाता है। वह कर्पूर जलाकर मूर्ति के चारों तरफ इतने ढंग से धुमाता है कि सारी मूर्ति साफ दीख जाती है। पहले मुँह के सामने फिर हाथ, पैर और वाहन के सामने इतनी अच्छी तरह आरती को घुमाता है कि साफ दर्शन हो जाते हैं। तो वहाँ मन्दिर में तुमको कर्पूर आरती की जरूरत है क्योंकि मूर्ति स्वप्रकाश नहीं है। सूर्य और चन्द्र भी भगवान् की मूर्तियाँ हैं। आप लोग रोज महिम्नः पाठ में कहते ही हो 'त्वमर्कः त्वं सोमः त्वमसि पवनः त्वं हुतवहः' आप ही सूर्य हैं, आप ही चन्द्रमा हैं और आप ही अग्नि हैं। ये भी भगवान् की मूर्तियाँ हैं। ये अष्ट मूर्तियों में आते हैं। अब सूर्य की मूर्ति देखने के लिये क्या तुमको कर्पूर आरती करवानी पड़ेगी ? नहीं, क्योंकि सूर्य का तो अपना ही प्रकाश पूर्ण है। न चन्द्रमा को देखने के लिये कर्पूर

आरती की जरूरत है न ही अग्नि मूर्ति को देखने के लिये क्योंकि उनकी तो अपनी रोशनी है। परमेश्वर को देखने के लिये किसी अन्य प्रकाश की जरूरत नहीं क्योंकि उसके प्रकाश से ही बाकी सब प्रकाश वाले होते हैं। इसलिये कहा सूर्य परमात्मा के धाम को प्रकाशित नहीं करता है क्योंकि सूर्य की रोशनी पैदा होने से पहले भी परमात्मा है। सूर्य के समाप्त होने पर भी परमात्मा रहेगा। हम लोगों के शास्त्रों के हिसाब से दिव्य दस हजार वर्ष तक सूर्य रहता है। आधुनिक विज्ञान कोई दूसरा काल बता सकता है, उससे कोई फर्क नहीं पड़ता है। परन्तु ये सब कार्य हैं, उत्पन्न होने वाले हैं। इसलिये जब भी उत्पन्न हुये और जब भी खत्म होंगे उससे पहले और बाद में परमात्मा तो वैसा ही रहता है। अतः उसको इनके प्रकाश की जरूरत नहीं है। सूर्य के प्रकाश की सीमा है। हमारे जो ग्रह-मण्डल हैं वे प्राचीन हिसाब से नव हैं। आजकल ग्यारह मानते हैं। इन सारे ग्रहमण्डलों को जरूर सूर्य प्रकाशित करता है परन्तु ब्रह्माण्ड के अन्दर तो यह बहुत छोटा सा हिस्सा है। इस सूर्य से सैकड़ों गुने बड़े दूसरे सूर्य हैं, उनके अपने ग्रह हैं। वहाँ इस सूर्य के प्रकाश से तो काम चलता नहीं है। अगर सूर्य के प्रकाश से परमात्मा प्रकाशित हों तो फिर संसार के अन्दर, ब्रह्माण्ड के अन्दर अनेक स्थल ऐसे होंगे जहाँ परमात्मा का प्रकाश नहीं रहेगा! इसलिये कहा कि सूर्य उसे विषय कर नहीं सकता। जब सूर्य ही उसको प्रकाशित नहीं कर सकता तो चन्द्रमा क्या करेगा! न ही अग्नि उसे प्रकाशित करेगी। ऐसा वह जो अधिष्ठानरूपी मेरा धाम है उसको प्राप्त करके फिर वापस नहीं आते। उसकी प्राप्ति का साधन पूर्व श्लोक में बतला दिया।

एक शंका होती हैः यह कैसे मान लिया जाये कि वहाँ जाकर वापस आता ही नहीं है ? यह शंका हमेशा से लोगों को परेशान करती है। मर कर जाने की चर्चा शास्त्रों में आयी है। उद्दालक आरुणि का पुत्र श्वेतकेतु पांचाल देश के राजा के पास गया। राजा परिषद् में बैठा हुआ था। राजा

का नाम जैवांत था। श्वेतकेतु अभी कमजोर उम्र का था, छोटी उम्र का था, जवान था, बड़े जोश से भरा हुआ था कि 'मैं पढ़कर आया हूँ, मेरी विद्वत्ता को राजा देखें और इज्जत दें।' महाराजा भर्तृहरि लिखते हैं—जब मैं कुछ-कुछ जानता था तब मैं हाथी की तरह नशे में चूर रहता था कि मेरे जैसा जानने वाला कौन है! और जब धीरे-धीरे ज्ञान होने लगा तो पता चला मेरे जैसा मूर्ख कोई नहीं है। इस लिये शास्त्रकार कहते हैं—'विद्या ददाति विनयम्' विद्या से मनुष्य में विनय आता है औद्धत्य नहीं आता, घमण्ड नहीं आता। घमण्ड तभी आता है जब वस्तुतः उसमें विद्या नहीं होती है।

वर्तमान काल में यही समस्या है : जो लोग नहीं पढ़ते वे तो औद्धत्य करके, स्टूडेन्ट यूनियन पर कब्जा करके विद्यार्थियों की तरफ से बोलने वाले हो जाते हैं और पढ़ने वाले दबा दिये जाते हैं। पढ़ने वाले ऊधम नहीं करते हैं। बदनामी यह होती है कि आजकल के लोग उद्दण्ड हो गये हैं। विद्यार्थी उद्दण्ड नहीं है परन्तु विद्यार्थी के वेश में वहाँ बहुत से ऐसे लोग हैं जिनको पढ़ने-लिखने से कोई मतलब नहीं है। बहुत साल पहले एक बार हम मध्य प्रदेश गये हुये थे। वहाँ के शिक्षा-सचिव से हमने कहा 'शिक्षा का स्तर इतना निम्न हो रहा है यह तो ठीक नहीं है।' कहने लगे—'इसको ठीक करना सम्भव नहीं है।' उस समय वहाँ के जो शिक्षामंत्री थे वे प्रायः कहा करते थे कि शिक्षा का स्तर अच्छा होना चाहिये। हमने कहा—'अभी तो आपके बड़े अच्छे मंत्री बन गये हैं।' हँसने लगे और कहने लगे—'गये साल एक परीक्षक हमारे पास एक कॉपी लेकर आया और कहने लगा कि इसको कितने नम्बर दे दूँ।' मैंने कहा—'मेरे से क्यों पूछ रहे हो ?' उन्होंने कहा—'यह मिनिस्टर साहब के साहबजादे की कॉपी है और इसमें नम्बर देने लायक कुछ भी नहीं है जो मैं नम्बर दे दूँ। मैं नम्बर दे दूँगा तो बाद में आप टेलीफोन करके कहोगे कि इसको ठीक कर दो तो पहले ही बता दो।' मैंने कॉपी लेकर रख ली। एक-आध दिन के बाद मिनिस्टर साहब के साथ बातें होने

लगी। हमने कहा 'अबकी बार विद्यार्थियों का नतीजा कुछ अच्छा नहीं लग रहा है तो क्या किया जाये? कुछ ढिलाई बरत ली जाये।' तो कहते हैं पन्द्रह मिनट तक शिक्षामंत्री ने कहा 'किसी हालत में भी ढिलाई नहीं करनी है, बिल्कुल कड़ाई रखना, कोई हस्तक्षेप सहन नहीं होगा।' जब पन्द्रह मिनट तक सारी बातें बोल चुके तब मैंने उनसे कहा—'आपके साहबजादे की कॉपी आयी है, फिर उसको उसी ढंग से ठीक कर दिया जाये?' तो वे बिल्कुल बदल गये! कहने लगे 'अरे जाने दीजिये, उसको कहीं कोई नौकरी थोड़े ही करनी है, वह तो कहीं न कहीं मिनिस्टर बनेगा। वह तो पॉलिटिक्स में आयेगा, उसको तो पास कर दीजिये।' अब बताइये स्तर कैसे सुधारें?' हमने कहा बात ठीक है।

इस प्रकार जो विद्यार्थी नहीं हैं वे वहाँ जाकर शिक्षा इस बात की लेते हैं कि हमें आगे नेता बनना है, मिनिस्टर बनना है और बदनामी विद्यार्थियों की हो जाती है।

विद्या हमेशा विनय देगी और जैसा भर्तृहरि ने कहा—जैसे ही मुझे विद्या आने लगी मेरा घमण्ड खत्म हो गया। श्वेतकेतु अभी जवान था, नया-नया पढ़ा हुआ था। उसको देखकर राजा जैवलि समझ गये कि अभी इसको बहुत नशा है। उन्होंने कहा—'हे कुमार! पिता के द्वारा तू अनुशिष्ट हो गया? पिता से तुम अच्छी तरह पढ़ लिख लिया?' श्वेतकेतु ने कहा—'हाँ, अच्छी तरह से पढ़ा हुआ हूँ।' जैवलि ने पूछा—'अच्छा तो फिर बता 'वेत्थ यथेमाः प्रजाः प्रयत्यो विप्रतिपद्यन्ता ३ इति?' कि यहाँ के लोग जब मरकर जाते हैं तो कौन से अलग-अलग रास्ते से कहाँ-कहाँ जाते हैं? इसका तुमको कुछ पता है?' श्वेतकेतु ने कहा—'यह तो पता नहीं है।' राजा ने पूछा—'अच्छा जाने दो। यह बताओ कि वहाँ से लौटकर लोग कैसे आते हैं, किस रास्ते से आते हैं?' उसने कहा—'इसका भी पता नहीं है।' राजा ने कहा 'अगर तुम पढ़े लिखे हो तो तुमको सोचना चाहिये था 'वेत्थ यथाऽसौ लोक एवं

बहुभिः पुनः पुनः प्रयद्भिर्न सम्पूर्यता ३ इति ?' इस संसार से इतने लोग मरकर जाते हैं तो कभी संसार खाली नहीं हुआ और वहाँ से आते हैं तो कभी ऐसा नहीं हुआ कि यहाँ जगह नहीं रही हो। ऐसा कैसे हो जाता है ? इस बात का तुमने पता लगाने का प्रयत्न ही नहीं किया कि कैसे आते हैं और कैसे जाते हैं, क्या बात है कि संसार खाली नहीं होता अथवा बिल्कुल नहीं भरता? अनन्त काल से न जाने कितने अनन्त कल्प बीत गये, अब तक कुछ तो कमी आई होती।' श्वेतकेतु समझ गया 'अरे इस बात पर मैंने अभी तक विचार नहीं किया।'

वहाँ से मुँह लटकाकर पिता के पास गया। वहाँ जाकर पिता से कहा–'आपने हमको पढ़ाया पर यह तो आपने हमको पढ़ाया ही नहीं।' पिता बड़ी उम्र के थे, समझदार थे। पिता ने कहा–'जितना मुझे आता है मैंने तेरे को पढ़ा दिया। ये बातें मैं भी नहीं जानता हूँ। इसलिये मैंने तेरे को नहीं पढ़ाया, जानता तो पढ़ाता। अतः ऐसा करो कि हम और तुम दोनों चलकर राजा से ही इस बात की जिज्ञासा करके ज्ञान प्राप्त करें।' पिता और पुत्र में फर्क देखो! पुत्र में घमण्ड था। उसने कहा 'आप ही हो आओ, मैं नहीं जाऊँगा।' उसके मन में था कि 'मैं कैसे राजा से, क्षत्रिय से जा कर सीखूँ? मैं तो ब्राह्मण हूँ बड़ा पण्डित हूँ।' पिता के मन में ऐसा कोई भाव नहीं था। पिता ने कहा–'अच्छा मैं जाकर सीखकर आऊँगा तो तेरे को बतला दूँगा।'

आरुणि गये। जैवलि ने बड़े आदर के साथ उनको बैठाया। अर्घ्य इत्यादि दिया जो हम लोगों की प्राचीन परम्परा है। कोई भी अतिथि आता है तो उसके पैर धुलाते हैं, हाथ धुलाते हैं। उनको आहारादि भी दिया। फिर पूछा 'ऋषि आप कैसे आये हैं? किसी न किसी आवश्यकता के लिये आये होंगे, आप हमसे माँग लें।' आरुणि ने कहा–'मेरा पुत्र आया था, आपने ये प्रश्न पूछे थे, इन प्रश्नों का आप हमको जवाब दें।' पहले तो जैवलि ने कहा

'धन-सम्पत्ति इत्यादि और कुछ ले लो पर इनके जवाब मत लो।' ऋषि ने कहा—'नहीं, मैं तो इसी काम के लिये यहाँ आया हूँ।' राजा ने कहा—'थोड़े, दिन यहाँ रहो, मैं तुमको यह विद्या दूँगा।' जब कालादि उपयुक्त समझा तब राजा ने उपदेश आरंभ करते हुए कहा 'आज से पहले यह विद्या कभी किसी ब्राह्मण के पास नहीं थी। तुम पहले हो जो इसको पूछने के लिये आये हो। यह विद्या अब तक ब्राह्मणों के पास नहीं, क्षत्रियों के पास थी। वह विद्या हम तुमको देते हैं।' फिर सभी प्रश्नों के उत्तर समझाये। यहाँ से जाने वाले लोग भिन्न-भिन्न रास्ते से जाते हैं। उपनिषद् के अन्दर बताया गया है कि जब आदमी मरने लगता है तब चारों चरफ लोग बैठ जाते हैं और पूछते हैं 'मुझे पहचान रहे हो? मुझे पहचान रहे हो?' पहले तो मुँह से कहता है—'हाँ'। फिर मुँह से नहीं कह पाता है तो कम से कम सिर ही हिलाता है, आँख से ही संकेत कर देता है। जब तक उसमें प्राण हैं तब तक तो जानता है। फिर उसके अंदर के शरीर का जितना तेज है वह हृदय में एकत्र हो जाता है। इसलिये पुराने लोग हाथ लगाकर कहते हैं—'अब पैर में नहीं रह गया, अब जाँघ में नहीं रह गया।' धीरे-धीरे कहते हैं 'अब केवल हृदय में है।' तेज चारों तरफ से एकत्र होकर हृदय में चला गया। जब केवल हृदय में पहुँच गया तब किसी को भी नहीं जानता है, नहीं पहचानता है।

हृदय में जाने के बाद जीव ने जो सारा जीवन जिया है वह उसके सामने बिजली की तरह कौंध जाता है, सारा जीवन संक्षेप में उसके सामने से निकल जाता है। इसलिये जो भावनाएँ जन्म भर अधिकतर समय करता रहा है वे सब बार-बार आती हैं। कई बार लोग सोचते हैं 'अन्तिम समय में हम परमात्मा का ध्यान कर लेंगे और बच जायेंगे।' लेकिन उस समय तुम कुछ नहीं कर सकोगे। उस समय कफ पित्त और वात ये तीनों धातु प्रकुपित हो जाते हैं। तीनों धातु बिगड़ जाते हैं। गला बन्द हो जाता है। उस समय

स्मरण करना सम्भव कहाँ है! इस लिये परमात्मध्यान की, स्मरण की आदत जीवनकाल में डालनी पड़ेगी। 'आज ही आपके चरणों में मन चला जाये। आज ही इन्द्रियाँ आपकी तरफ केन्द्रित हो जायें।' यह निश्चय अभी बनाने का है अंत समय के लिये टालने का नहीं। अन्तिम समय में क्यों जीवन बिजली की तरह चमकता है? उस समय अपनी स्वतन्त्रता तो कुछ नहीं है परन्तु हम जो बार-बार सोचते हैं वह तब सामने उपस्थित हो जाता है। इसीलिये बड़ा जरूरी है कि जीवन भर हमारे मन के विचार ठीक रहें। अगर जन्म भर हमने अपने विचार शुद्ध नहीं रखे, चाहे हम बाहर से कितना भी अच्छा आचरण करते रहे, उस समय तो जो वृत्तियाँ सामने आयेंगी उनमें अपने अंदर की भावना ही प्रधान रूप से काम आयेगी, उसी की विशेषता रहेगी। जो हमने किया है उसकी अपेक्षा जो हमारे मन में था वह ज्यादा आगे आयेगा। प्रायः यह गलती मनुष्य करता है कि मन से किसी चीज को ठीक समझता रहता है लेकिन बाहर आचरण में अन्य बात को ठीक मान कर करता रहता है। इसलिये हम लोग जब वेदाध्ययन में किसी का प्रवेश होता है तब गायत्री मन्त्र देते हैं। गायत्री मन्त्र में प्रार्थना ही यह है 'धियो यो नः प्रचोदयात्' हमारी बुद्धि, हमारा निश्चय ठीक होना चाहिये। निश्चय ठीक होगा तो काम ठीक होगा ही। परन्तु काम ठीक होने पर भी यदि निश्चय गलत होगा तो हम आगे नहीं बढ़ पायेंगे।

जब जीवन इस प्रकार मनोदृष्टि में चमकता है बस उस चमक के साथ ही आत्मा बाहर निकलता है। किसी की आँख से निकलता है तो किसी का मुख से निकलता है। जब आत्मा निकलता है तब शरीर की जितनी सन्धियाँ हैं सब से टूट कर प्राण बाहर निकलता है। जितनी इन्द्रियाँ हैं वे सारी भी उसके साथ निकल जाती हैं। जो उसने जीवन भर उपासना की है, जो उसने अच्छे बुरे कर्म किये हैं, और जो उसकी पूर्व-वासनायें हैं, वे सारी की सारी आगे जहाँ जाना है उसका निश्चय कर लेती हैं। दृष्टान्त

श्रुति ने दे दिया जोंक का, तृणजलूका का। जोंक जिस प्रकार अपने मुख या आगे के पैर को दूसरे पत्ते पर जमा लेती है तब पिछला पैर उठाती है, इसी तरह जीव पहले अपने शरीर को निर्धारण कर लेता है कि कहाँ जाना है तब इस शरीर को छोड़ता है। इस प्रकार यह चक्र चलता रहता है। अतः कभी भी संसार न खाली होता है न ठसा-ठस भर जाता है। संसार का मतलब केवल पृथ्वी मत लेना क्योंकि श्रुति कहती है—चाहे प्रजापति लोक में जाये चाहे देवलोक में जाये चाहे पितृलोक में जाये चाहे गन्धर्वलोक में जाये; उसने जैसी कर्म उपासना की है तदनुसार वहाँ-वहाँ पहुँच जाता है। हर हालत में, सभी मरकर जहाँ जाते हैं वहाँ से पुनः लौट कर आते हैं यही शास्त्रों में प्रसिद्ध है। इसी से संसार-चक्र चलता ही रहता है। तब भगवान् ने कैसे कहा कि परम धाम को पाकर फिर नहीं लौटते ? जब जायेंगे तो लौटना चाहिये ही ; यह शंका है। इस तरह यह संसार-चक्र चलता रहता है। इसी लिये मनुष्य जो अपना वास्तविक सत् परमात्मरूप है उसको प्राप्त नहीं हो पाता है।

इसके समाधान के लिये यह समझना ज़रूरी है कि वहाँ जाना मायने क्या है? रस्सी साँप रूप में दीख रही है। साँप का रस्सी होना मायने क्या है? जो गलत ज्ञान था कि यह साँप है, उसका हट जाना ही साँप फिर रस्सी हो जाना है। सचमुच में अगर साँप बना होता तो सचमुच में उसे फिर रस्सी बनना पड़ता। इसी प्रकार यहाँ अपने अधिष्ठान, अपने धाम को प्राप्त करने का मतलब है, इस बात को जान लेना कि यह मेरा स्वरूप है। इसके सिवाय गमन और कुछ होता तो कमी-बेसी का प्रश्न आता। अगर रस्सी से बने हुये साँप का वस्तुतः नाश हो जाता तो प्रश्न उठता कि रस्सी से इतने साँप आये, इतने साँप खत्म हो गये, अब और कितने साँप रस्सी से निकलेंगे? एक-एक धागे का भी साँप बने तो भी कभी न कभी सिलसिला खत्म हो जायेगा! यहाँ खत्म क्यों नहीं होता है? रस्सी के अन्दर सचमुच कभी परिवर्तन

हुये बिना अज्ञान से साँप दीखता है। अज्ञान रहते वह दीखता रहेगा क्योंकि वहाँ कुछ बदलाव तो हुआ है नहीं। इसी प्रकार जो अपने स्वरूप का ज्ञान है उससे अपनी नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त-स्वभावता का पक्का निश्चय हो जाने से अपनी सचाई का, अनंत-आनंदरूपता का जो हमें अज्ञान है, लगता नहीं कि हम ही असीम सुखसागर हैं, वह समाप्त हो जाता है जिससे हम वैसे ही बद्ध से मुक्त हो जाते हैं जैसे साँप रस्सी बन जाता है। क्योंकि हम मुक्त थे ही हमेशा से इसलिये यहाँ उस तरह लौटने का प्रसंग नहीं जिस तरह अज्ञानी मरकर जाते-आते हैं। अत एव भगवान् ने स्पष्ट किया कि मेरा परम-धाम पाकर लौटा नहीं जाता।

प्रवचन—१४

भगवान् ने बताया कि मेरा जो परमधाम है, जहाँ जा कर कभी वापस आना नहीं पड़ता, वह किसी भी प्रकाश से प्रकाशित नहीं, अर्थात् किसी भी ज्ञान का विषय नहीं। अब प्रश्न होता है कि संसार में सारे व्यवहार तभी हो पाते हैं जब हम किसी चीज को जानते हैं। जिस चीज का हमको साक्षात् अनुभव न हो, जिस चीज का हमको अपरोक्ष ज्ञान न हो, उस चीज से हम व्यवहार नहीं कर सकते। मान लो हमारे घर में गड़ा हुआ धन पड़ा है। है हमारे घर में, हमारे मकान में। मकान हमारा है और हम रह भी उसमें रहे हैं। होने पर भी उस धन को हम काम में नहीं ले सकते, क्योंकि हमें उसका प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं है, अपरोक्ष ज्ञान नहीं है, हमको उसका अनुभव नहीं है। इसलिये किसी भी चीज से व्यवहार तब सिद्ध होता है जब उसका ज्ञान हो। ज्ञान हमेशा किसी न किसी ज्ञान के साधन से होता है। रूप का ज्ञान होगा, तो आँख से होगा। शब्द को जानोगे तो कान से जानोगे। स्वाद को जानोगे तो जीभ से जानोगे। प्रत्येक चीज का ज्ञान, हमको किसी न किसी ज्ञान के साधन से होता है, कोई न कोई माध्यम हो तब ज्ञान होता

है। अब उस परमधाम के विषय में भगवान् ने कह दिया कि वह किसी भी ज्ञान का विषय नहीं है। अवेद्य है। अतः प्रश्न उठता हैः जब उसका हमको अनुभव हो ही नहीं सकता; तो उससे हम कैसे व्यवहार करेंगे, उससे हम कोई लाभ कैसे उठायेंगे ?

जब विचार करते हैं तो एक चीज ऐसी है जिसका किसी से कभी व्यवहार होता नहीं, और जिसके बिना कोई व्यवहार होता नहीं। वह है स्वतः ज्ञान स्वरूप "मैं"। रात दिन मैं ज्ञानस्वरूप, जो अपना रूप है, उसके साथ व्यवहार कर रहा हूँ, और अपरोक्ष व्यवहार कर रहा हूँ। सर्वथा जैसे हमको घड़ा कपड़ा स्पष्ट भान होता है, उसके विषय में कभी कोई सन्देह नहीं होता, घड़ा दीख रहा है, साफ रोशनी में दीख रहा है, उतना ही स्पष्ट यह भी दीखता है कि मैं देख रहा हूँ। देखने वाला मैं हूँ—इसका उतना ही स्पष्ट भान है, जितना दीखने वाले घड़े का। इसलिये जो ज्ञान स्वरूप "मैं", जिसको शास्त्रीय भाषा में "साक्षी" कहते हैं, वह हमेशा सब अपरोक्ष व्यवहारों के अन्दर मौजूद है, उसके बिना कोई व्यवहार हो नहीं सकता। अपरोक्ष है, परन्तु इसको किसी भी साधन से नहीं जानते। न हम अपने आपको आँख से देख सकते हैं, न कान से सुन सकते हैं, न जीभ से चख सकते हैं। ऐसे समझ लो आँख, दुनिया की सब चीजों को देखती है। आँख से हमको दुनियाँ की सारी चीजें दीखती हैं। परन्तु क्या आँख से आँख दीख रही है? यद्यपि आँख का ज्ञान हमको सर्वथा अपरोक्ष है, प्रत्यक्ष है, सन्देह नहीं है कि मेरी आँख देख रही है। और सच्ची बात तो है कि मेरे सिवाय और कोई कह भी नहीं सकता कि मेरी आँख देख रही है! हम लोग चश्मा लेने के लिए डॉक्टर के पास जाते हैं। डॉक्टर नहीं कह सकता हमको कौन सा चश्मा चाहिए। वह तो एक काँच लगाता है, पूछता है 'अब साफ हुआ?' फिर बदल कर कहता है, 'अब साफ हुआ ?' जब हम कहते हैं 'अब हमको बिल्कुल साफ दीख रहा है, थोड़ा भी परिवर्तन होने पर साफ नहीं है, तब वह कहता है 'यह

तुम्हारा नम्बर हुआ।' तो हमारे नम्बर को हमारी आँख ने बतलाया कि डॉक्टर ने बतलाया ? अगर कोई व्यक्ति कहे–'डॉक्टर साहब! आपके पास आ गया, अब आप चश्मा दे दो, मेरे से क्यों पूछ रहे हो कि तुमको दीखता है कि नहीं दीखता ?' तो कोई डॉक्टर चश्मा नहीं दे सकता। जैसे आँख से तुम सारे अपरोक्ष व्यवहार करते हो परन्तु आँख को तुम किसी दूसरी आँख से नहीं देखते। यह दूसरी बात है कि आँख को मन देखता है लेकिन यहाँ आँख के रूप की बात है। इसी प्रकार जो अपना आत्मत्व है, जो अपना ज्ञानस्वरूप है, वह सब चीजों को जानता है, और जब उन चीजों को जानता है तो हमको अपनी ज्ञानस्वरूपता का, हम जानने वाले हैं इस बात का पता लगता है परन्तु किसी साधन से नहीं लगता। चूँकि साधन से नहीं लगता इसलिये भगवान् ने कहा–किसी दूसरे के द्वारा प्रकाशित नहीं। परन्तु बिना साधन के सारे व्यवहार उसके आधार पर होते हैं, इसलिये भगवान् आगे कहेंगे कि उसके प्रकाश से सब कुछ प्रकाशित हो रहा है।

यदि उस परमात्मतत्त्व को हम जान ही रहे हैं, अन्य किसी प्रकार से, प्रमाण से, उसे जान नहीं सकते, और जानने वाला ज्ञान-स्वरूप है, उस रूप से जान ही रहे हैं, तब जो भगवान् ने कहा कि उसके ज्ञान के बाद लौटना नहीं पड़ता, वह फल सबको हमेशा प्राप्त होना चाहिये। वह ज्ञान तो है ही तब फिर सभी को मुक्त हो जाना चाहिए। भगवान् बतलाते हैं कि क्यों ऐसा नहीं होता.

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।
मनःषष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति।।७।।

जीव के द्वारा जिसका अनुभव होता है वह जीवलोक है। अनुभव तो हमें हो रहा है, परन्तु हम साक्षी के अनुभव से रहित हैं, हम जीवरूप से देख रहे हैं। यह जीवलोक कैसा है ? तो 'मम एव अंशः, जीवभूतः' मेरा

ही एक अंश जीव बन जाता है। जीव क्यों बनता है ? आप लोगों ने कैमरे वाले को देखा होगा, फोटो लेता है। अगर बीस आदमी का फोटो इकट्ठा लेना होता है तो वह दूर जाकर लेता है। अगर खाली एक आदमी का फोटो लेना है, तो बिल्कुल पास आकर लेता है। सारे चेहरे का लेना है तो थोड़ा दूर हो जाता है। छाती तक का लेना है तो और दूर हो जाता है। जितनी छोटी चीज का फोटो लेना हो, उतना ही उसको अपने कैमरे का छेद छोटा कर देना पड़ता है। इसी प्रकार परिछिन्न नाम-रूपों को जानना तभी सम्भव हो, जब परिछिन्न उपाधि में आवे, छोटी उपाधि में आवे। फोटो का नहीं समझो तो दूसरा दृष्टान्त ले लो : जहाँ हम लोग बैठे हुए हैं, इस सभा मण्डप के अन्दर चारों तरफ आकाश तो है ही, जगह है ही। अगर हमें बाल्टी भर पानी चाहिए तो हम इसी में भर लेवें, बाल्टी की क्या जरूरत है? बाल्टी की खाली जगह में भी पानी ही आना है, यहाँ खाली जगह है ही, यहीं भर लो। यदि बाल्टी भर पानी तुमको भरना है तो तुमको बाल्टी जितनी उपाधि चाहिये। और यदि तुमको दो सौ आदमी के बैठने की जगह चाहिए, तो उतनी ही बड़ी उपाधि चाहिये। इसी प्रकार परिच्छिन्न नाम-रूपों का व्याकरण, परिच्छिन्न नाम-रूपों का ज्ञान तभी हो, जब हम परिच्छिन्न भाव से देखें।

इसलिये 'जीवभूतः', परमात्मा का ही मानो हिस्सा है जो जीव हो गया है। जीव रूप वह क्यों लेता है? परिच्छिन्न चीजों को जानने का और कोई तरीका नहीं। परिच्छिन्न उपाधि में, सीमित उपाधि में जाकर ही सीमित चीज को जाना जा सकता है, अनुभव किया जा सकता है। सीमित के अनुभव से ही क्या फ़ायदा? सीमित चीज का अनुभव करके पुनः असीम भाव की प्राप्ति में कुछ विशेष सुख होता है। जैसे लोक में : तुम बड़े करोड़पति व्यापारी के घर पैदा हुए, तुम्हारा व्यापार चलता रहा, करोड़ों रुपये आ रहे हैं। सुख है, सुख की कोई कमी नहीं है। फिर तुम्हें बड़ा भारी घाटा हो गया। सात

पीढ़ी से चलने वाली दुकान खत्म हो गई। किसी के यहाँ मुनीमी की नौकरी करने लगे। वहाँ से परिश्रम करके धन बचा कर, धीरे-धीरे फिर वैसे ही करोड़पति बन गये। इस प्रकार यदि गरीबी में आकर फिर करोड़पति बने। तो उसकी कुछ विशेषता होती है। अपने प्रयत्न का, अपनी बहादुरी का, अपनी योग्यता का उसमें पूरी तरह से भान होता है; नहीं तो बाप, दादों का चल रहा है, चल रहा है। ठीक इसी प्रकार, परिच्छिन्न भाव के अन्दर आकर अपने को केवल साढ़े तीन हाथ के खाक के पुतले में ही समझ कर, फिर जब साधना के द्वारा पहुँच कर पता लगता है कि मैं किस प्रकार से सर्वज्ञ सर्वेश्वर हूँ, पहले भी था, नामरूप-व्याकरण के लिये जीव हुआ, अब पुनः उस भाव में हूँ, तो कुछ विशिष्ट आनन्द व्यावहारिक दृष्टि से कहा जाएगा। व्यवहार में भी लोग कहते हैं, 'भाई इसने बहुत अच्छा किया, अपनी खोयी दौलत फिर कमा ली।' वह काम तो पहले भी कर ही रहा था, परन्तु अब चूँकि उसने अपने परिश्रम से फिर से कमा लिया इसलिये विशेषता है। इसी प्रकार जीवभाव में आकर पुनः इसमें से निकल जाने में कुछ विशेषता है।

यह जीव-भूत कैसा है ? तो कहा—'ममैवांशः' मुझ परमेश्वर का ही अंश है। अंश का मतलब सीधा सादा होता है, टुकड़ा, हिस्सा। तो क्या परमेश्वर के टुकड़े हो सकते हैं ? पहले भी एक बार बतलाया था, अगर टुकड़े होते जाएँगे, तो जिस चीज के टुकड़े होते हैं वह एक दिन खत्म हो जाती है। अच्छा भला कपड़ा होता है, कोई आकर महात्मा को कहता है, 'महाराज जी के लिए कपड़े का नमूना चाहिए, थोड़ा सा कपड़ा फाड़ कर दे दो।' वे उसमें से फाड़ कर दे देते हैं। कोई दूसरा आता है, तीसरा आता है। छः आठ महीने के बाद हम पूछते हैं, 'अरे कपड़ा कहाँ गया?' तो थोड़ा सा लीरा ला के दे देते हैं! 'अरे यह क्या है? पूरा कपड़ा आया था, छः मीटर था?' कहते हैं 'जी नमूना देने में चला गया !' तो यदि किसी चीज

के टुकड़े होते जाएंगे, अंश होता जाएगा, तो एक दिन चीज गायब हो जाएगी। इसी लिए इसके ऊपर भगवान् वेद-व्यास ने विचार किया कि जब ज़ीव को परमात्मा का अंश कहते हैं तब अंश का क्या मतलब है? ईश्वर के अंश का क्या मतलब? आचार्य स्पष्ट करते हैं 'अंश इव' सचमुच में अंश नहीं, अंश की तरह है। तुम्हारा बेटा है, वह तुम्हारा अंश है, लोक में भी उसको तुम्हारा अंश ही कहते हैं। बाप का ही अंश है। परन्तु क्या तुम्हारा लड़का जब पैदा होता है तो तुम्हारा कोई टुकड़ा कम हो जाता है? तुम्हारा लड़का भी वैसा ही पूर्ण मनुष्य पैदा हो जाता है जैसे तुम पूर्ण हो। ऐसा नहीं है कि तुम्हारे चार बेटे हुए, तो हर बेटा चौथा हिस्सा होवे तुम्हारा! हर बेटा अपने में पूर्ण है। इसी तरह परमेश्वर पूर्ण बना ही रहता है और अलग-अलग अन्तःकरण आदि उपाधियों के अन्दर भी पूर्ण ही होता है। रोज यहाँ शान्ति पाठ में आप लोग बोलते हैं—'पूर्णात् पूर्णमुदच्यते' पूर्ण से पूर्ण निकलता है। बाप भी पूर्ण है, उससे पैदा होने वाला लड़का भी पूर्ण है। फिर भी अंश कहा जाता है। इसी प्रकार परमेश्वर भी पूर्ण है। अन्तःकरण में पड़ने वाला उसका प्रतिबिम्ब भी पूर्ण है। फिर भी प्रतिबिम्ब होने के कारण वह अंश कहा जाता है। यह अंश पड़ रहा है अन्तःकरण में, अहम् में। इस अहम् के कारण जो उसका साक्षी रूप है, व्यापक ज्ञानरूप है, उसका पता नहीं लगता। इस लिए भगवान् भाष्यकार कहते हैं—

'ब्रह्मानन्दनिधिः महाबलवताहङ्कारघोराहिना
संवेष्ट्यात्मनि रक्ष्यते गुणमयैश्चण्डैस्त्रिभिर्मस्तकैः।
विज्ञानाख्यमहासिना द्युतिमता विच्छिद्य शीर्षत्रयं
निर्मूल्याहिमिमं निधिं सुखकरं धीरोऽनुभोक्तुं क्षमः।।'

ब्रह्मानन्द रूप निधि अर्थात् खजाना है। वह खजाना तुम्हारे में है। व्यापक आनन्द का खजाना तुम्हारे अन्दर है। पुराने जमाने में खजाने को जमीन में गाड़ देते थे और किसी को बतलाते नहीं थे। एक हमारे बड़े जौहरी

थे, बहुत साल पहले उन पर सरकार की रेड हुई। एक हफ्ते तक रेड चली, सब कुछ उन्होंने ढूँढ लिया, कोई चीज मिली नहीं। अन्त में उन्होंने वृद्ध से कहा—'जी आपके यहाँ तो कुछ मिला नहीं! कुछ तो बताओ?' उन्होंने कहा 'तुमने देख लिया, हम क्या बतावें!' उन लोगों की भाषा में, 'कुछ डिक्लेयर कर दीजिये।' उन्होंने कहा 'क्या करें, तुमने तो सब देख लिया, तो क्या बतावें।' बोले—'सरकार का तो पाँच-छह लाख रुपया खर्च हो गया आपके इस रेड में।' बोले' अब इसकी जिम्मेदारी तो हमारी नहीं है।' उन्होंने कहा आखिर हमको यह तो निश्चित पता है कि आपके पास कुछ चीज है जरूर, कहीं न कहीं आपने रखी है।' उन्होंने कहा 'इस मकान के सिवाय हमने कहीं नहीं रखी है। है और इसी मकान में है। ढूँढ लो।' उन्होंने कहा 'अब रेड तो खत्म हो गई, बता तो दों।' उन्होंने कहा—'हमने आज तक अपने बेटों को ही नहीं बताया, तुमको क्या बतावें!!' पुराने जमाने में इसी ढँग के लोग होते थे। कई बार धन गड़ा रह जाता था, वे मर जाते थे। लोकप्रसिद्धि है कि ऐसा व्यक्ति मर कर फिर साँप बन जाता है। साँप बन कर जो गड़ा हुआ धन है, उसके ऊपर कुण्डली मारकर बैठा रहता है, कि कोई दूसरा खोद के न ले लेवे! ठीक इसी प्रकार ब्रह्मानन्द निधि है। ब्रह्मानन्द का खजाना है, तुम्हारे में गड़ा हुआ है परन्तु तुम्हे अज्ञान है। महान् बल वाला ज़ो अहंकार है वह बड़ा घोर, जबरदस्त साँप है। क्योंकि जितना बड़ा खजाना होगा उतना ही घोर साँप भी चाहिए उसकी रक्षा के लिए। यह सबसे बड़ा खजाना है ब्रह्मानन्द इसलिये इसको बचाने के लिए अहंकार रूप घोर साँप हैं। उसको भली प्रकार लपेट करके उसकी रक्षा कर रहा है। अब वह साधारण साँप नहीं है, 'चण्डैः त्रिभिः मस्तकैः' ब्रह्मानन्द निधि के ऊपर जो साँप है, उसके तीन सिर हैं। सत्त्वगुण वाला अहंकार, रजोगुण वाला अहंकार, तमोगुण वाला अहंकार—तीनों ही उसकी रक्षा करने में लगे हुए हैं : तीनों सिर वाला साँप रूप अहंकार इसकी रक्षा कर रहा है। जिस

समय सत्त्व गुण बढ़ता है, उस समय मैं ज्ञाता हो जाता हूँ, जिस समय रजोगुण बढ़ता है उस समय मैं कर्त्ता बन जाता हूँ। मैं ही तो बन रहा हूँ। जिस समय तमोगुण बढ़ जाता है उस समय मैं प्रमादो हो जाता हूँ, आलसी हो जाता हूँ। इस प्रकार ब्रह्मानन्द का खजाना इस अहंकार के द्वारा ढका रहता है। या मैं ज्ञाता बनता हूँ या मैं कर्ता बनता हूँ या मैं प्रमादी बनता हूँ; जो मेरा वास्तविक रूप है, वह नहीं रहता।

अगर इस ब्रह्मानन्द के खजाने को लेना है, तो बहादुरी करनीं पड़ेगी। बातों से काम नहीं होगा। बड़ी जबरदस्त तलवार चाहिये।'विज्ञानाख्यमहासिना द्युतिमता' छोटी मोटी तलवार से इतना भयंकर साँप तो काटा नहीं जा सकता। विज्ञान रूप महान् तलवार चाहिये। बार-बार परमेश्वर के रूप का श्रवण, बार-बार युक्ति पूर्वक विचार—इस प्रकार श्रवण मनन को बार-बार करने से जो विज्ञान उत्पन्न होता है, वही बड़ी भारी तलवार है। वह तलवार ऐसी है कि जो उसके तीनों सिरों को काट सकती है—ज्ञाता, कर्त्ता, प्रमादिता—तीनों को काट देगी। वह तलवार भी कैसी ? 'द्युतिमता'। हमारे एक सिक्ख भक्त हैं, विहार में रहते हैं, तलवार रखते हैं। वह तलवार उनके बाप दादों के समय से चली आई है, व्यापारी हैं, व्यापार करते हैं। एक बार हमने उनसे कहा—'आप की तलवार देखें तो सही कैसी है।' पुरानी तलवार है तो मूठ के ऊपर खूब बढ़िया नक्काशी का काम किया हुआ हैं, लेकिन जब उसको म्यान से निकालकर देखा तो उसमें जंग लगा हुआ था। हमने कहा—'भले आदमी! इससे तुम किसको मार सकते हो?' बोला—'मैं व्यापारी आदमी, किसको मारना है! यह तो रखनी चाहिए, बाप दादों की चीज़ चली आई है। और हमारे धर्म में रखने का नियम भी है इसलिये हम रखते हैं। मारना थोड़े ही है किसी को।' इसी प्रकार हम श्रवण मनन के द्वारा बड़ी सुन्दर तलवार ले भी लेवें, लेकिन जब तक खूब तेज धार की हुई नहीं होगी तब तक भी काम नहीं होगा। ऐसी तलवार से 'विच्छिद्य शीर्षत्रयम्' तीनों

सिरों को जब काट देंगे तब 'निर्मूल्याहिमिमम्' उस साँप को जड़ मूल से सर्वथा खत्म कर देंगे तभी 'इमं सुखकरं निधिम्' यह जो सुख देने वाला खजाना है वह हमें प्राप्त होगा। लेकिन 'धीरोऽनुभोक्तुं क्षमः' जो धैर्य वाला है वही इसका अनुभव कर इसके भोग में, इस खजाने को भोगने में सामर्थ्य वाला है। जिसका इस प्रकार का अहंकार नष्ट हो जाता है वह फिर कभी भी 'न निवर्तन्ते' चाहे जैसी परिस्थिति आए अपने आपको परिच्छिन्न, कर्त्ता-भोक्ता मान बैठे यह संभव नहीं।

भगवान् शंकर के एक भक्त कैलाश में रहते थे। भगवान् की तरह-तरह की लीलाएँ होती हैं। एक बार उनके मन में आया 'मेरे प्रिय मित्र अगस्त्य हैं, उनसे मिला जाये।' अगस्त्य भी भगवान् शंकर के परम भक्त हैं। उनको भगवान् शंकर ने किसी कार्य के लिए दक्षिण भेज दिया था। विंध्याचल गड़बड़ी पैदा कर रहा था इस लिये विंध्याचल को ठीक करने के लिए उनको दक्षिण जाना पड़ा। वापस आ नहीं सकते थे, काम ही ऐसा था। वे वहीं जा कर रह गये। उन्हीं ने वहाँ जाकर तामिल भाषा का प्रथम और प्रधान व्याकरण बनाया। अभी तक वही तमिल भाषा का सबसे अच्छा व्याकरण है। वहाँ के लोगों को सब प्रकार से शिक्षित किया। भगवद्गण के मन में आया तो अगस्त्य से मिलने के लिए चल दिये। चलते-चलते रास्ते में एक जगह देखा, एक ग्वाला मरा पड़ा है और उसके चारों तरफ उसकी जो गायें हैं वे उसको घेर कर रो रही हैं। शाम का समय हो रहा है। गायों के मन में 'अब हम कैसे अपने घर जायें, जंगल का मामला है' यह डर और उस ग्वाले के प्रति प्रेम का भाव था। गाय को बड़ा प्रेम होता है। संसार में दूसरे प्राणियों को देख कर फिर गाय का चेहरा देखो तो पता चलता है, उसमें कितना भोलापन है। तुम जर्सी रख लो, आस्ट्रेलियन रख लो, कुछ रख लो, उसमें वह बात नहीं हैं। चेहरा ही कुछ और है। जितनी गायें थीं वे चारों तरफ घेर कर रो रही थीं; उसके प्रति प्रेम भी था, भय भी था।

उनके दुःख को देख कर उन भक्त के मन में बड़ी दया आयी कि ये वेचारी दुःखी हैं तो इनको गाँव पहुँचा देना चाहिए। सिद्ध थे, जो यहाँ भगवान् ने तरीका बतलाया है उसको जानते थे। भगवान् ने यहाँ बतलाया है 'मनःषष्ठानि इन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति'। प्रकृति के अन्दर होने वाले इन्द्रियाँ, मन इत्यादि सबको आकर्षित कर जीव चलाता है, अर्थात् उपस्थित होकर इन सब को प्रवृत्त करता है। और जब जब इससे उत्क्रमण करता है, शरीर को छोड़ करके जाता है, तो–

शरीरं यदवाप्नोति
यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः।
गृहीत्वैतानि संयाति
वायुर्गन्धानिवाशयात्।।८।।

इन इन्द्रियों को, मन को यहाँ से लेकर जाता है। अगर हम किसी का वजन तोल लें, फिर वह मर जाए, तो क्या उसका वजन कम होगा? इतना का इतना वजन निकलेगा। जब इन्हें लेकर गया तो कुछ फर्क पड़ना चाहिए! भगवान् ने कह दिया–जिस प्रकार फूल से वायु जब गन्ध लेकर जाती है–फूल हो, कस्तूरी हो, केसर हो, कोई हो गन्ध लेकर के तो चली गई वायु–तब उस चीज के अन्दर कोई कमी आती है क्या ? जैसे वायु गन्ध लेकर चली जाती है फिर भी उस पुष्प में कोई फर्क नहीं आता इसी प्रकार इस शरीर से इन सब चीजों को लेकर चला जाता है फिर भी कोई फर्क नहीं आता।

जाते समय क्या-क्या ले जाता है?

श्रोत्रं चक्षुः स्पर्शनं च
रसनं घ्राणमेव च।

अधिष्ठाय मनश्चायं
विषयानुपसेवते।।९।।

जहाँ जाकर बैठता है, उस नये शरीर में कान, आँख, स्पर्श, रसना, घ्राण पाँचों इन्द्रियाँ बैठ जाती हैं, मन भी बैठ जाता है। 'अधिष्ठाय' फिर से उनको चलाने वाला बन जाता है, और उस नये शरीर में फिर 'विषयान् उपसेवते' रूप, रस, गन्ध, शब्द, स्पर्श से व्यवहार प्रारंभ करता है। इस प्रकार शरीरान्तर में जाने का तरीका यहाँ भगवान् ने बतलाया। हम लोग अज्ञान से जाते हैं, अर्थात् जबरदस्ती हम लोगों को ले जाया जाता है। जो इस विषय को जानता है, वह जानकर जाता है।

भगवान् की बताई हुई प्रक्रिया वे भक्त जानते थे। उन्होंने अपने शरीर से इन चीजों को निकाल कर उस ग्वाले के शरीर में प्रवेश किया, सारी इन्द्रियाँ काम करने लग गई! जो ग्वाला था उसका नाम था मूल। जैसे ही उसके शव में प्राण आया तो आँखें हिलने लगीं, होठ हिलने लगे। गायें बड़ी प्रसन्न हो गईं, बड़ा अच्छा हो गया। उठा, लकड़ी ली और उनको हाँकते हुए ले गया, गायें भी बड़ी प्रसन्नता से चलीं। गाँव में पहुँच गया। गायें यथास्थान पहुँचा दी तो वापस चलने लगा। घर के लोग आ गए कि 'अरे कहाँ जा रहे हो?' वह उनसे बोला नहीं । वहाँ से चलकर वापस आया, तो भगवान् शंकर की लीला ! उसका जो अपना शरीर था वह वहाँ था ही नहीं। अब क्या करे? तब तक घर वाले भी और गाँव वालों को लेकर वहाँ पहुँच गये। अब पत्नी वगैरा कहने लगीं 'घर चलो!' उसने कहा—'मैं घर के काम का नहीं हूँ।' उन लोगों ने गाँव के पंचों से शिकायत की। परन्तु पंचों ने देखा कि उसके चेहरे पर दिव्य तेज है, तीव्र वैराग्य है। उन्होंने घर वालों से कहा, 'भाई, कुछ न कुछ इसमें गड़बड़ी है। अब तुम इसको तो स्वतन्त्र छोड़ दो।' वे वहीं पेड़ के नीचे रह गए। वहीं पर तपस्या करने लगे। लिखा तो है कि साल में एक दिन उनको होश आता था। तीन सौ चौसठ

दिन तो समाधि में रहते थे, और एंक दिन उनको होश आता था। तब वे एक श्लोक शिष्यों को बतला देते थे और पुनः समाधि में चले जाते थे। इस प्रकार उन्होंने तीन हजार श्लोक लिखे। करीब-करीब मिलते हैं सारे। उसी देश की भाषा में लिखे। ग्वाले के शरीर में थे, अतः उसी के अनुरूप भाषा में लिखे। उसके अन्दर सारे वेदों का रहस्य आया है। यह भगवान् की लीला इसीलिए थी, कि उस देश के अन्दर, वहाँ वालों को भी वेद के ज्ञान की उपलब्धि होवे।

जब आदमी उस अहंकार को काट देता है तब स्वतंत्र हो जाता है। जब तक अहंकार है तब तक तो वह ब्रह्मानन्द की निधि मिलती नहीं, इस लिए अज्ञान के कारण जन्म-मरण के चक्र में चलता रहता है।

जब विज्ञान की तलवार से अहंकार को काट दिया तब अज्ञान नहीं रह गया,वह स्वतन्त्र होकर ही इस बंधन से अस्पृष्ट हो जाता है। उसका शरीरत्याग वैसा नहीं जैसा अज्ञानियों का होता है। उसे सत्य का ज्ञान बना रहता है। यह स्पष्ट करते हुए भगवान् कहते हैं–

उत्क्रामन्तं स्थितं वापि
भुञ्जानं वा गुणान्वितम्।
विमूढा नानुपश्यन्ति
पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः।।१०।।

अज्ञानी आत्मा को जानते नहीं; न जब वह जी रहा है, भोग रहा है तब और न ही जब वह निकलकर जाता है तब। जो मूढ हैं, अज्ञानी लोग हैं, उनको इसका भी पता नहीं लगता कि मैं कब मरूँगा! दूसरों की छोड़ो, खुद अपने ही मरने की खुद को ही खबर नहीं रहती। डॉक्टर और नहीं पता लगने देते, कहते रहते हैं,'बस अब एक और इन्जेक्शन देंगे, ठीक हो जाएगा।' गीता में भगवान् ने ढंग से मरने का भी तरीका बताया है

'प्रयाणकाले मनसाचलेन भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव'। पहले गाँव में लोग ऐसा करते भी थे : जब आदमी मरने वाला होता है तो गोबर से जमीन को लीप कर, कुशासन रख कर, उसको गंगा जल से स्नान करा कर, उस आसन पर बैठा देते हैं; भस्मी, रुद्राक्ष धारण करा देते हैं; फिर वह बैठ कर वहाँ ओंकार का ध्यान करते हुए शरीर को छोड़ता है। आजकल अस्पतालों के अन्दर बिस्तरे पर ही मर जाते हैं! उनको तब तक पता ही नहीं चलता कि हम बरी हो रहे हैं। कई लोग पूछते हैं, 'महाराज! पहले पता कैसे चले?' तो भगवान् ने स्पष्ट किया 'विमूढा न अनुपश्यन्ति' जिन्होंने इस अहंकार को काटा नहीं उनको जाते हुए का भी पता नहीं लगता और स्थित का भी सही-सही पता नहीं लगता। लेकिन 'पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः' जिनका ज्ञान-नेत्र खुल गया है, वे देखते हैं। मूढों को जब आत्मा शरीर में स्थित है उस समय भी पता नहीं लगता है। शरीर कोई कार्य करने जा रहा है तो उनको पता नहीं लगता, वे बस शरीर के साथ, अहंकार के साथ ही अपने को देखते हैं। कौन शरीर को चला रहा है ?—इसका भी उनको स्थिति काल में पता नहीं लगता। 'भुंजानम्' इसी प्रकार से भोग करते हुए भी उनको पता नहीं लगता। करना, भोगना और शरीर छोड़कर जाना—इन तीनों को करते हुए 'गुणान्वितम्' तीनों गुणों से युक्त हुआ वह करता है अहंकार से एकमेक हुआ रहता है, इसलिये उसे पता नहीं लगता। जिन्होंने विज्ञान रूप तलवार प्राप्त कर ली वे उत्क्रमण को भी जानते हैं, स्थिति काल में भी जानते हैं, भोग काल में भी जानते हैं।

इस प्रकार भगवान् ने कहा—'मेरा जो धाम है, वह है तो नित्य अपरोक्ष परन्तु जाना नहीं जाता है।' प्रश्न हुआ कि जाना नहीं जाता तो लाभकारी कैसे है? उत्तर दिया—अपरोक्ष होने से। यदि अपरोक्ष है तो हमको लाभ हो जाना चाहिए? हो तो जाए, परन्तु उसके ऊपर अहंकार रूप साँप, तीन सिर वाला है। इन तीनों गुणों वाला जो अहंकार रूप साँप है, उसको काट

दो तो फिर तुम्हारे लिए सारा रहस्य खुल जाता है, फिर तुम स्वतन्त्र होकर इस सारे ब्रह्माण्ड में रह सकते हो।

प्रवचन—१५

भगवान् ने बतलाया किस प्रकार जीव एक शरीर को छोड़कर जाते समय क्या-क्या वहाँ से लेकर जाता है और फिर नये शरीर में जाकर क्या करता है। इस प्रकार शरीर से उत्क्रमण, शरीर में रहना, शरीर में भोगना—इस विषय को, जो ज्ञान चक्षु वाले हैं वे नियंत्रित कर लेते हैं। उनके हृदय में करुणा का निरन्तर प्रवाह बना रहता है। इसीलिए कल बताया था कि गाय तक को देखकर मूलनाथ ने दूसरे शरीर में प्रवेश किया। वहाँ भी जाकर वहाँ के लोगों पर करुणा से उन्हें कैसे उस तत्त्व की प्राप्ति हो इसका उपाय बताते रहे। इस प्रकार इहलौकिक और पारलौकिक उभयविध करुणा का सागर उनके हृदय में हमेशा रहता है। जिन्होंने पूर्ण निष्ठा को प्राप्त कर लिया है, प्रबुद्ध हैं, वे सारी उपाधियों से रहित परमात्मतत्त्व को देख लेते हैं।

शंका होती है कि हम लोग ऐसे नहीं हैं। हम लोगों में इतनी सामर्थ्य नहीं है कि हम इन सारे तत्त्वों को जान सकें, इन पर हमारा नियंत्रण हो सके। तो क्या वह चरम तत्त्व जिसे भगवान् ने कहा कि पाकर लौटना नहीं पड़ता, मोक्ष हो जाता है, वह परमेश्वर का परम धाम हम लोगों से हमेशा दूर ही रहेगा ? तब भगवान् कहते हैं—ऐसी बात नहीं है—

यतन्तो योगिनश्चैनं
पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम्।
यतन्तोऽप्यकृतात्मानो
नैनं पश्यन्त्यचेतसः।।११।।

भगवान् कहते हैं कि अपने ही शरीर के अन्दर, बुद्धि के अन्दर, मन के अन्दर यह स्थित आत्मतत्त्व है। अतः इसका मिलना इतनी पूर्ण निष्ठा के बिना भी सम्भव है। कोई कोई वहाँ तक पहुँच सकता है। ऐसे समझ लो–गंगा कितनी मधुर है, कितनी शीतल है, कितनी गहरी है, उसमें कितने दवाई के गुण है भैषज्य-गुण हैं, इन सारी बातों को साधारण आदमी नहीं समझ सकता। उसके लिये सम्भव नहीं। परन्तु गंगा के किनारे जाकर, गंगा-स्नान कर अपने पापों की निवृत्ति और इस शरीर के ताप की, गर्मी की निवृत्ति तो साधारण व्यक्ति भी कर सकता है। अथवा आधुनिक दृष्टान्त ले लो–बिजली की क्या-क्या सामर्थ्य है? बिजली कैसे बनती है? पानी से लेकर के अणु विस्फोट तक से बिजली पैदा की जाती है। राजस्थान में कोटा में आणविक बिजली बनती है। अणु से बिजली बनाते हैं, एटम से। यहाँ बाँध से ऊपर से पानी गिरता है, उससे बिजली बनती है। कितने भेद हैं इसके बनने में। फिर इसके प्रयोग में कितने भेद हैं। इस प्रकार बिजली की सम्पूर्णता को न जानने वाला साधारण व्यक्ति भी अपने मकान में लट्टू तो जला ही लेता है, बिजली का पंखा तो चला ही लेता है। यह तो सबको उपलब्ध है। इसी प्रकार गंगा की पूर्णता का ज्ञान होना हम लोगों के लिए अत्यन्त कठिन है। एक बार कुम्भ का मेला था। देवर्षि नारद भी वहाँ आए हुए थे, सभी ऋषि, महर्षि वहाँ पहुँचते हैं। देवर्षि नारद ने स्नान नहीं किया। बाकी सब तो कुम्भ में स्नान कर रहे थे, देवर्षि नारद खड़े हुए, देख रहे थे। गंगा जी ने पूछा 'क्या बात है?' गंगा जी ने नारद जी से पूछा–'मज्जन्ति ऋषयः सर्वे त्वमेकः किं न मज्जसि?' 'सारे दूसरे ऋषि स्नान कर रहे हैं, तुम क्यों नहीं कर रहे ?' नारद जी ने कहा–'गङ्गे! ते दर्शनाद् मुक्तिर्न जाने मज्जनात् फलम्! हे गंगा जी! शास्त्रों के अनुसार तुम्हारे दर्शन से ही मुक्ति बतलाई है। मुक्ति से आगे कौन सा फल है जो डुबकी लगाने से मिलेगा?' यहाँ तक गंगा की महिमा बतलाई है कि सौ योजन दूर से भी यदि कोई

गंगा का स्मरण करता है तो पापों से मुक्त होता है। इतने सारे रहस्यों को साधारण आदमी नहीं जानता । गंगा के पूर्ण माहात्म्य को नहीं जानता, परन्तु गर्मी के मौसम में नहा कर शरीर की गर्मी तो मिटा ही लेगा और उससे उसके पाप भी निवृत्त हो जायेंगे। इतना लाभ तो वह भी उठा ही लेगा।

इसी प्रकार आत्मा के सारे रहस्य को सब लोग न भी जान सकें परन्तु तुम्हारे शरीर में, तुम्हारे हृदय में, तुम्हारी बुद्धि में,'आत्मनि अवस्थितम्' स्थित कौन है ? 'एनम्' वही परमात्मतत्त्व। उसको वे जान लेते हैं जो योगी उसके लिये प्रयत्नशील हैं। विवेक, वैराग्य इत्यादि के अन्दर जो लगे हुए हैं, यत्न कर रहे हैं, वे भी इस नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त परमात्मा का दर्शन तो पा ही जाते हैं साक्षात्कार उनको भी हो जाता है।

अर्जुन ने कहा–'महाराज! बहुत से लोग यत्न करते हैं परन्तु किसी-किसी को होता है किसी-किसी को नहीं भी होता। इसमें क्या हेतु है?' भगवान् रहस्य बतलाते हैं–'यतन्तोऽपि' कोशिश करने वाले भी 'अकृतात्मानः' अगर परमेश्वर की कृपा से रहित हैं, परमेश्वर को प्रसन्न करने के लिए परमेश्वर के प्रेम में जिन्होंने अपने मन को नहीं डुबो दिया है, वे 'एनं न पश्यन्ति' इसको नहीं देख पाते। यत्न करने वाले ही देख पाते हैं, परन्तु यत्न करने के साथ जो परमेश्वर की कृपा के लिए परमात्मा के साथ प्रेम करते हैं, उनको तो इसकी प्राप्ति हो जाती है, परन्तु जो इससे भिन्न हैं वे वंचित रह जाते हैं। अचेतस मायने क्या? 'विवेकशून्या बहिर्मुखाः' । परमात्मा से प्रेम न कर जिनका प्रेम संसार के विषयों के प्रति है, अनात्म-पदार्थों के प्रति है, जिनका चित्त बहिर्मुखी है–दृश्यों की ओर ही उन्मुख बना रहता है, वे अचेतस हैं। ऐसे वे हैं क्यों? क्योंकि क्या सच्चा है और क्या सच्चा नहीं है इस बात की परीक्षा नहीं करते। जब परीक्षा से रहित होते हैं तो बाहर से अनात्मा की जो चकमक है उसको देखकर

उस तरफ दौड़ने लगते हैं। चाहे वे योग का अभ्यास भी कर रहे होवें, मेरा जो नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त स्वभाव है उसका उनको दर्शन नहीं हो पाता क्योंकि उनके मन में निश्चलता नहीं आती।

किस प्रकार के अभ्यास को करने के लिए भगवान् ने यहाँ बतलाया है? यद्यपि शास्त्रों में अनेक प्रकार के योगों का वर्णन है। तथापि आचार्य शंकर कहते हैं कि भिन्न-भिन्न प्रकार के लाखों साधन बताए गए हैं, लय योग, हठ योग, नाद योग, बिन्दु योग इत्यादि, परन्तु चित्त को एकाग्र करने का अत्यन्त सरल उपाय, अपने अन्दर जो निरन्तर ओंकार की ध्वनि हो रही है, उसकी तरफ ध्यान ले जाना है। इसका अभ्यास करने वाला योगी सिद्धासन से बैठ जाए और बाहर के विषयों को ग्रहण करना छोड़ दे। मन से तो विषयों का चिन्तन होवे, उसको छोड़ने को अभी नहीं कह रहे हैं, वह तुम्हारे हाथ में नहीं है, परन्तु जिस समय यह साधना करने बैठे हो, उस समय बाहर के विषयों से इन्द्रियों का सम्पर्क यथाशक्ति बन्द रखो। आजकल कुछ लोगों की साधना होती है : एक तरफ टेप रिकार्ड बजा देते हैं और ध्यान करने बैठते हैं! कुछ लोग विशेष प्रकार की रोशनी—लाल रंग की, हरे रंग की—जला देते हैं और फिर उसकी तरफ ध्यान देते हैं। यहाँ तुम न बाह्य शब्द को सुनने का प्रयत्न करो, न किसी गन्ध को ग्रहण करने का प्रयत्न करो। लोग चित्त को एकाग्र करने में ये सारे साधन ले लेते हैं, अत्यन्त सुगन्धित पदार्थ का धुआँ होवे तो उसमें भी चित्त एकाग्र हो जाता है। किसी रोशनी को ध्यान से देखो तो उसमें भी चित्त एकाग्र हो जाता है। परन्तु ये जो बहिर्मुखी हैं उनको उस नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त आत्मस्वरूप का साक्षात्कार नहीं होगा। इस लिए कहा कि बाहर से आने वाले सब विषयज्ञानों को बन्द कर दो। उसके लिए उत्तम है प्रातःकाल साढ़े तीन चार बजे उठ कर बैठो। प्रायः उस समय और कहीं की आवाज नहीं आती। एक झंझट की चीज जरूर है; पहले तो हम सोचते थे यहाँ नहीं

होगी, अब पता लगा यहाँ भी है; वह जो तुम्हारा टेलीफोन है। उसका कोई ठिकाना नहीं सवेरे साढ़े तीन बजे भी बज जाए। तो जहाँ उसकी आवाज न आवे वहाँ दूर जाकर बैठो। फिर पहले थोड़ी देर तक तो श्वांस की गति को सहज बन जाने दो। प्रायः श्वास प्रश्वास के अन्दर समानता नहीं होती, या साँस अन्दर जाने में तेजी करता है या बाहर निकलने में तेजी करता है। थोड़ी देर तक यदि प्राण की तरफ दृष्टि की जाती है, प्राण आ रहा है, उसकी ओर ध्यान देने लगते हो तो धीरे-धीरे वह सहज अवस्था में, समान अवस्था में आ जाता है। फिर अन्दर से उठने वाली ध्वनि को दाहिने कान में सुनो, सुनने की कोशिश करो। अपने अन्दर निरन्तर ओंकार का नाद हुआ करता है। जब चारों तरफ से मन हटा कर साँस को समान कर देते हैं, तब दाहिने कान में धीरे-धीरे हल्की हल्की आवाज आने लगती है। यह बाहर की आवाज नहीं है। साफ 'ओंकार' नहीं सुनाई देता है। पहले ऐसी आवाजें आती हैं जैसे समुद्र के किनारे रहो तो समुद्र की हल्कि-आवाज आती है। अथवा दूर से जब बादल गरजते हैं तब जो आवाज आती है वैसे आयेगी। अथवा दूर जब नगाड़ा बज रहा होता है, तब जो आवाज आती है उस तरह लगेगी। अथवा कहीं निर्झर, नाला चल रहा होवे, झरना चल रहा होवे, तो उसकी आवाज आती है, वैसी कान में आने लगती है। इस प्रकार भिन्न-भिन्न प्रकार की आवाजें आकर अन्त में जैसे हल्का-हल्का घुंघरु बज रहा होवे ऐसी आवाज आती है। फिर जैसे दूर से बाँसुरी की आवाज हो, ऐसी आवाज आती है। जैसे भँवरा गूँजता है, वैसी आवाज आती है। परन्तु ये सब बड़ी हल्कि आवाजें आएँगी। जैसी गले से स्पष्ट व्यक्त होती है बोलने पर, वैसी वैसी आवाज नहीं समझ लेना। करना कुछ नहीं है, केवल जो आवाज आ रही है अन्दर से, उसे सुनने मात्र का प्रयत्न है। सुनते समय, 'अन्दर में विद्यमान परमात्मा हमारे को परम मन्त्र सुनाने का प्रयत्न कर रहा है और हम उसको सुनने का प्रयत्न कर रहे हैं', ऐसा भाव रखे। जैसे कोई व्यक्ति

जरा धीमे बोल रहा हो तो उसकी बात को सुनने के लिए तुम्हारा चित्त सर्वथा उसकी बात और उसके होठों पर एकाग्र हो जाता है, इसी प्रकार परमात्मा हमारे अन्दर बैठा हुआ निरन्तर इस परम मन्त्र का उपदेश दे रहा है, इसको पूरी एकाग्रता से सुनना है। इस प्रकार सुनने का प्रयत्न करते करते जब सुस्पष्ट ॐ का ग्रहण होता है तब तृप्ति होती है। जैसे भँवरा होता है; इस फूल की गन्ध लेता है, उस फूल की गन्ध लेता है, अन्त में जाकर बैठ जाता है जो फूल उसको पसन्द आया उस पर। उसका जो मकरन्द है, पराग है, उसको ग्रहण करने लगता है। जब वह उस मकरन्द को ग्रहण कर रहा है, पराग को खा रहा है, उसका रसपान कर रहा है, उस समय तुम उसके पास किसी दूसरी गन्ध के फूल को ले जाओ, तो वह उधर बिल्कुल ध्यान नहीं देता। इसी प्रकार नादानुसंधान में जब तक उसका रसपान शुरू नहीं हुआ तब तक तो एक के बाद दूसरी, दूसरी के बाद तीसरी आवाज आती रहती है; अन्त में जब वह परम मन्त्र ओंकार अन्दर स्पष्ट हो जाता है तो उसमें ऐसा मन रम जाता है कि फिर और किसी चीज की तरफ मन जाता ही नहीं! उस काल में उसकी आँख भी स्थिर हो जाती है, यद्यपि दृश्य कुछ नहीं है। किसी चीज को जब तुम ध्यान से देखते हो तब तो तुम्हारी दृष्टि स्थिर होती है, किताब बाँच रहे हो तो दृष्टि स्थिर है, परन्तु जिस समय आँख से किसी चीज को देख नहीं रहे, उस समय दृष्टि चंचल होती है। लेकिन इस ध्यान के गांभीर्य में दृश्य कुछ नहीं है, फिर भी दृष्टि सर्वथा स्थिर है। श्वास और प्रश्वास भी रुक जाता है, बिल्कुल कुम्भक हो जाता है, बिना किसी प्रयत्न के। साँस रोकने की कोशिश नहीं है परन्तु वह जो परम मन्त्र भगवान् अन्दर उच्चारण कर रहे हैं, उसे सुनने में इतनी एकाग्रता हो जाती है कि स्वभावतः साँस बन्द हो जाती है, कुम्भक का अभ्यास हो जाता है। चित्त भी सर्वथा स्थिर हो जाता है परन्तु विषय उसके लिए कुछ नहीं है, अवलम्ब नहीं है।

परब्रह्म परमात्मा के द्वारा उच्चरित किया हुआ तार अर्थात प्रणव वही है, ओंकार वही है। हम लोग जो मुँह से बोलते हैं, वह तो उसका अत्यन्त स्थूल रूप है! उसका वह रूप मुँह से उच्चरित नहीं किया जा सकता, वैखरी वाणी से उसको नहीं कह सकते। यह एक दिन का काम नहीं है! यह तो धीरे-धीरे करने का काम है। अगर एक घड़ी, चौबीस मिनट,भी इसका अभ्यास करे, आधा घण्टा भी नियम से अभ्यास करे, तो धीरे-धीरे स्थिति बनने लगती है। फिर बहिर्मुखता नहीं रह जाती। जितने भी इष्ट और अनिष्ट भाव हैं–यह चीज हमारी इच्छा का विषय है, हमको अच्छी लगती है, यह अनिष्ट है, बुरी लगती है, यह जो अच्छा और बुरा लगना है–ये मिट कर सब चीजें इष्ट ही लगने लगती हैं। इस सारी सृष्टि को चलाने वाला कौन है? परमात्मा है। उसकी इच्छा के बिना कहीं कुछ हो तो रहा नहीं है। उसको कोई चीज अनिष्ट होती तो वह चीज होती ही नहीं!

एक आदमी का नियम था अतिथि-सेवा करना। कोई भी महात्मा आवे, उसको भोजन जरूर कराता था। एक दिन एक महात्मा आया तो उसने निवेदन किया 'महात्मन् ! भोजन करने बैठिये।' महात्मा बैठ गया। परोसा। जैसे ही परोसा, वह खाने को झट तैयार हो गया, खाने लगा। न कोई ब्रह्मार्पण किया, न आचमन किया, न भगवान् का किसी अन्य प्रकार से स्मरण किया। बस परोसा और खाने लगा। गृहस्थ को बड़ा खटका, बुरा लगा। उसने कहा–'महात्मन्! आपने भगवान् का कोई नाम भी नहीं लिया, कोई चिन्तन भी नहीं किया और झट खाने लग गए ?' उसने कहा–'मैं भगवान्–वगवान् कुछ नहीं मानता। ये सब चीजें मैं नहीं मानता, ये सब बेकार हैं।' यह बात सुनते ही भक्त को बड़ा गुस्सा आया। उसने कहा–'यदि तुम ऐसे पाखण्डी नास्तिक हो, तो फिर जाओ यहाँ से, हम तो महात्मा समझ रहे थे। तुम्हारे जैसों के लिए यहाँ खाना नहीं है।' उठा दिया, वह चला गया। गृहस्थ था अभ्यासी। शाम को जब ध्यान करने बैठा तो भगवान् की मूर्ति उसको कुछ

दुःखी सी नजर आयी। उसने भगवान् से पूछा—'भगवन्! क्या बात है ?' बोले 'बात कुछ नहीं है, तू बड़ा समझदार है।' कहने लगा—'आप ऐसी बात क्यों कहते हैं ?' उन्होंने कहा 'सवेरे कोई आया था खाने के लिए ?' बोला—'हाँ आया था।' 'तुमने उसको उठा दिया?' बोला—'महाराज! वह आपको ही नहीं मानता! ऐसा नास्तिक, उसको कैसे खिलावें ?' 'उसकी कितने साल की उम्र होगी, तुम्हारे ख्याल में ?' कहा—'करीब चालीस एक का होगा।' बोले—'जिसको चालीस साल तक मैं दिन में दो बार खिलाता रहा, उसको तुझे एक बार खिलाना भारी पड़ गया? तू अपने को इतना बुद्धिमान् समझता है?' समझ गया। उसने कहा—'भगवन्! गलती हो गयी, आप क्षमा करें।'

तो संसार में सब लोगों के व्यवहार को कौन चला रहा है? परमेश्वर चला रहे हैं। हम अपनी छोटी सी बुद्धि से इष्ट और अनिष्ट का चिन्तन करते हैं : यह अच्छा है, यह बुरा है। साधक के लिये सब इष्ट ही है क्योंकि परमात्मा कर रहा है। परमात्मा को गलत समझना यह हमारा काम नहीं। हम जैसा समझें वैसा परमात्मा करे—यह अपने को बुद्धिमान् मानना है। परमात्मा जो कर रहा है वही ठीक है, यह वास्तविक मान्यता है।

नतीजा इसका होता है—'नीराग-द्वेषता चित्ते या सैव शिवपूजनम्'। इस प्रकार इष्ट और अनिष्ट वृत्ति खत्म हो जाने से न किसी से राग होता है, न द्वेष होता है। ये जो राग-द्वेष से रहित हो जाना है यही भगवान् शंकर की पूजा है। हम लोगों की समझ अलग-अलग है। दर्द होता है तो हम लोग समझते हैं कि बुरा है। जब कोई तुम्हारे पीठ पैर आदि दबाता है, सेवा करता है तब ज़ोर से दबाए तो तुम्हें दर्द होता है परन्तु उस दर्द को तुम अच्छा समझते हो क्योंकि उस प्रकार दबाने से थोड़ी देर में तुम्हारा शरीर हल्का हो जाता है। इसी प्रकार जो पीडा अपने को हो, वह भी पैर दबाने की तरह होने से पूजा ही है। दुःख भी परमेश्वर की पूजा है। जब पीठी

करते हैं, उबटन आदि लगाते हैं तब दुःख होता है पर वह प्रिय होता है। बेसन में दही और घी मिला कर शरीर पर रगड़ते हैं। शादी के पहले तो करते ही हैं। दिल्ली इत्यादि शहरों में औरतें नाइयों की दुकानों पर जाती हैं, उनके बालों में लम्बे-लम्बे काँटे घुसा कर खूब जोर से कसते हैं, बालों को ठीक ढंग का सुन्दर सेट करने के लिए। उसमें दुःख होता है परन्तु वह दुःख भी क्योंकि आगे सुन्दरता खिला देता है, चाहे बालों की हो, चाहे शरीर की, इसलिये अच्छा ही लगता है। अतः दुःख भी पूजा है।

रोग भी भगवान् शंकर की पूजा हो रही है। 'रोगैः पापक्षयो यतः' क्योंकि रोग से हमारे पुराने पाप खत्म हो रहे हैं। जैसे किसी बैंक का तुम्हारे ऊपर कर्ज़ है, वह जब कम होता है तो तुम खुश होते हो। आचार्य शंकर छांदोग्य उपनिषद् के भाष्य में लिखते हैं 'बुखार आने पर इस बात को सोचे कि शरीर तप रहा है तो मैं तप कर रहा हूँ।' गर्मी के मौसम में लोग चारों तरफ आग लगा कर बैठते हैं, धूना लगाकर बैठते हैं, तपते हैं; शरीर गर्म ही तो होता है। बुखार में भी शरीर गर्म ही हो रहा है। उस बुखार को दूर करने के प्रयत्न की अपेक्षा यदि उसमें तपो दृष्टि करते हैं तो तपस्या सिद्ध हो जाती है। चाहे जितनी दवाइयाँ ले लो, बुखार को तो जब जाना है तभी जाएगा! लोग कहते हैं कि दवाई नहीं लेंगे तो बुखार जाएगा कैसे ? जब दवाईयाँ नहीं थीं तब भी बुखार जाता ही था, जहाँ गाँव में दवाई नहीं होती वहाँ बुखार जाता ही है। जैसे बिना बुलाए आया है, बिना धक्का दिये जाएगा भी। परन्तु यदि हम उसे हटाने के प्रयत्न में लगे तो तप की सिद्धि नहीं होगी। इस लिए कहा 'रोगा एव परा पूजा' रोग भी परा पूजा है क्योंकि— 'रोगैः पापक्षयो यतः।' और अगर रोग नहीं है तो 'आरोग्यं परमा पूजा नैरोग्यं मुक्तिसाधनम्' रोग-रहित होना आरोग्य की अवस्था भी भगवान् शंकर की पूजा है, क्योंकि नीरोग अवस्था में ही ध्यान धारणादि सब करके मुक्ति को प्राप्त करने की साधना कर सकते हैं।

सत्‌संग भी परम पूजा है क्योंकि सत्संग मोक्ष का साधन है। सत्पुरुषों का संग करोगे वे तुमको ठीक बात बतलाएँगे, तुम्हारा श्रवण मनन सिद्ध होगा तो मोक्ष होगा। इसलिए सत्‌संग भी भगवान् शंकर की पूजा है। यह तो समझ में आता है, परन्तु शास्त्रकार कहते हैं–'असत्संगः परा पूजा यत्र मोहः परीक्ष्यते!' असत्पुरुषों का संग भी भगवान् शंकर की पूजा है क्योकि वहाँ मोह की परीक्षा होती है! हम किसी चीज के मोह में पड़ने से बचने की सामर्थ्य वाले हैं या नहीं, इसकी परीक्षा होती है। असत् पुरुषों के बीच रहने से मोह होता है तो पता लगता है कि हमारा विवेक अभी पुष्ट नहीं हुआ, मोह नहीं होता है तो पता लगता है कि इतनी दृढता तो हो गयी। मोह की परीक्षा कराने वाला असत् पुरुषों का संग भी भगवान् शंकर की पूजा ही है।

'स्तुतिरेव परा पूजा' कोई स्तुति करे तो वह भी पूजा ही है, क्योंकि 'स्तुतौ देवः प्रसीदति' स्तुति सुनने से अपने अन्दर बैठा हुआ देव प्रसन्न होता है। लेकिन 'निन्दैव परमा पूजा' जब कोई निन्दा करता है तो समझ लो वह भी भगवान् शंकर की पूजा हो रही है! 'सुहृदां गालयो यथा' जैसे अपने रिश्तेदार विवाह आदि विशेष-विशेष अवसरों पर गालियाँ गाते हैं, वह भी प्रसन्नता का ही कारण बनता है। अगर भोजन मिलता है तो भगवान् का नैवेद्य है, इसलिए पूजा रूप है ही, लेकिन 'अभोजनं परा पूजा' भोजन नहीं मिले तो वह भी भगवान् की परापूजा है, क्योंकि 'उपवासप्रियो हरिः' भगवान् विष्णु उपवासप्रिय हैं; एकादशी इत्यादि के दिन [illegible]ी लिए उपवास रखा जाता है। अगर बैठे हुए हो तो परम पूजा है, क्योंकि बैठ कर ही भगवान् का उपस्थान किया जाता है, सारे पूजा पाठ बैठ कर ही करते हो। लेकिन अगर गिरते हो 'पतनं परमा पूजा' पैर फिसल कर गिर जाओ, तो भी परमपूजा है। क्योंकि 'नमस्कारस्वरूपिणी' गिरते हो तो भगवान् को नमस्कार हो गया!

मरना भी भगवान् शंकर की परम पूजा है 'मरणं परमा पूजा

निर्माल्यत्यागरूपिणी' । जब सवेरे-सवेरे भगवान् शंकर के मन्दिर में जाते हो तो बासी फूल हटाते हो, वह भी तो भगवान् की पूजा ही है। इसी प्रकार अन्दर बैठा हुआ है परमात्म देव, उसके ऊपर कार्य करने में अक्षम हुआ यह शरीर बासी हो गया, बासी शरीर हट रहा हैं, उस परमात्मदेव के ऊपर से, अतः मरना पूजा ही तो है। 'जीवनं परमा पूजा' जीवन तो पूजा है ही। जीवन के द्वारा ही परमेश्वर के सारे कार्यों को मैं सम्पन्न कर रहा हूँ। इस प्रकार जो व्यक्ति संसार के रहस्य को जान लेता है उसका सारा जीवन महादेव की पूजा ही बन जाता है। यदि सद्गुरु मिले तभी यह दृष्टि बन पाती है जिससे सारा जीवन ही पूजा होती है क्योंकि हर चीज का देव में ही लय होता है।

इस प्रकार जीवन के अन्दर अचेतस्ता को, बहिर्मुखता को, हटा करके सर्वत्र इष्ट दृष्टि करनी है, सब को परमात्मा की लीला रूप से ही ग्रहण करना है। चाहे सामान्य लोगों को विरुद्ध लगे पर कहीं कुछ विरुद्ध नहीं है क्योंकि सब कुछ करने वाला तो परमात्मा है, सभी कुछ उसकी लीला है। तभी बहिर्मुखता सर्वथा छूटेगी और जो अन्दर स्थित परमात्मा है इसको 'पश्यन्ति', इसका साक्षात् दर्शन होगा।

दर्शन का स्वरूप ही संक्षेप में भगवान् बताते हैं–

यदाऽऽदित्यगतं तेजो
जगद् भासयतेखिलम्।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ
तत्तेजो विद्धि मामकम्।।१२।।

सर्वत्र परमात्मा को देखने का तरीका भगवान् यहाँ संक्षेप में बतलाते हैं। सूर्य में चमक देखो तो याद रखो कि सूर्य की चमक नहीं है, परमेश्वर की चमक है। चन्द्रमा में देखो, अग्नि में देखो, जहाँ भी देखो 'तत् मामकं

तेजो विद्धि'—वह सूर्य, चन्द्र, अग्नि की तेजस्विता नहीं है, परमात्मा ही उसमें चमक रहा है यह जाने रहो।

गामाविश्य च भूतानि
धारयाम्यहमोजसा।
पुष्णामि चौषधीः सर्वाः
सोमो भूत्वा रसात्मकः।।१३।।

जैसे तेज मेरा स्वरूप है, वैसे ही पृथ्वी के अन्दर भी मैं ही विद्यमान हूँ। पृथ्वी हम सब को धारण कर रही है, इतने लोग बढ़ गये, कहीं गड्ढे तो नहीं हो जाते पृथ्वी के अन्दर! सब लोगों को धारण कर रही है। वस्तुतः परमेश्वर ही इस पृथ्वी में बैठ कर सबको धारण कर रहे हैं। इसी प्रकार 'रसात्मकः सोमो भूत्वा सर्वाः ओषधीः पुष्णामि' जल रूप होकर, रस रूप होकर, चन्द्रमा की किरणों से आकर जितनी वनस्पतियाँ हैं उन सबको पुष्ट करने वाला भी वही है। पृथ्वी, जल और तेज—ये संसार की भिन्नताओं के प्रत्यक्ष कारण हैं। इसलिए छांदोग्यमें तीन की उत्पत्ति बताकर बाकी वायु-आकाश की उत्पत्ति भी कह दी गयी ऐसा मान लिया। भगवान् भी सामवेदी थे, सामवेद में तीन की उत्पत्ति बतलाई, तो यहाँ भगवान् ने भी तीन का उल्लेख कर दिया। लेकिन वायु-आकाश में भी बात यही है, उन उपाधियों में परमेश्वर ही उपस्थित हैं। जडों में ही नहीं, चेतनों में भी वे ही हैं—

अहं वैश्वानरो भूत्वा
प्राणिनां देहमाश्रितः।
प्राणापानसमायुक्तः
पचाम्यन्नं चतुर्विधम्।।१४।।

भगवान् कहते हैं मैं वैश्वानर होकर प्राणियों के देह में रहता हूँ और

प्राण-अपान को सहायक बनाकर चार तरह का अन्न पचा जाता हूँ। चार प्रकार का अन्न होता हैः मनुष्य इत्यादि तो पार्थिव अन्न खाते हैं गेहूँ, चावल, जौ इत्यादि। चातकादि जो पक्षी हैं, वे आप्य अर्थात् जल को ही खाकर गुजारा करते हैं। प्रसिद्धि है कि स्वाति नक्षत्र में जो बादल बरसेगा, उस पानी को पीकर ही चातक अपना गुजारा करता है। बालखिल्यादि ऋषि लोग तेज का ही भक्षण करते हैं। एक चकोर नाम का पक्षी होता है। वह भी अग्नि ही खाता है, अंगारे ही खाता है, ऐसा प्रसिद्ध है। सर्प इत्यादि अनेक हैं जो वायु-भक्षी हैं, केवल वायु ही खाकर रहते हैं। इस तरह कुछ लोग पार्थिव खाते हैं, कुछ जलीय खाते हैं, कुछ तैजस खाते हैं, कुछ वायवीय खाते हैं। ये चार प्रकार के भक्ष्य हो गये भिन्न-भिन्न प्राणियों के। चारों प्रकार के अन्न जड हैं, उन्हें चेतन शरीर में परिणत करने वाला जो वैश्वानर रूप है, इस रूप से भगवान् प्राणियों के अन्दर हैं। अतः कहा हर प्राणी के अन्दर वैश्वानराग्नि रूप से मैं हूँ और मैं ही इस अन्न को शरीर रूप में परिणत कर देता हूँ। इस प्रकार से जड-चेतन सर्वत्र मेरी शक्ति को देखो। इस तरह परमात्मलीला का दर्शन कैसे करें यह भगवान् ने संक्षेप में स्पष्ट कर दिया।

प्रवचन—१६

भगवान् ने अपनी व्यापकता बतलाते हुए कहा पृथ्वी में, जल में, सूर्य में, अग्नि में, चन्द्र में, सब में मैं एक जैसा व्यापक हूँ। प्राणियों के अन्दर भी वैश्वानर रूप से रह कर मैं उनके द्वारा खाये हुए जड अन्न को चेतन शरीर मन इत्यादि रूप में परिणत कर देता हूँ। इस प्रकार सभी प्राणियों के अन्दर परमेश्वर अग्निरूप से विद्यमान हैं अतः वे सभी ईश्वरमात्र ही हैं। इसका प्रतिपादन करने पर भी इस बात को दुबारा अन्य प्रकार से कहते हैं। जब हम प्राणियों के साथ व्यवहार करते हैं तब कभी न कभी

या तो हम असावधान हो जाते हैं अर्थात् उनके अन्दर विद्यमान ईश्वर की तरफ हमारा ख्याल नहीं जाता अथवा उनके शरीर मन वाणी इत्यादि का व्यवहार देख कर हमें भ्रम हो जाता है 'ये परमेश्वर नहीं होंगे'। जो परमेश्वर के उपासक मुमुक्षु लोग हैं उनको कभी भ्रम या प्रमाद से भी ऐसी भेदबुद्धि नहीं करनी चाहिये कि यह अच्छा है, शिष्ट है; यह भ्रष्ट है, निकृष्ट है; यह शूद्र है, पुल्कस है इत्यादि। प्राणियों में रहने वाले ईश्वर की दृष्टि कभी थोड़ी देर के लिए भी न हटे इसकी तरफ अत्यन्त सावधान रहना चाहिए। इस सावधानी को बतलाने के लिए भगवान् कही हुई बात को भी पुनः दोहरा कर दूसरी तरह से कहते हैं

सर्वस्य चाऽहं हृदि संनिविष्टो
मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च।
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो
वेदान्तकृद् वेदविदेव चाहम् ।।१५।।

भगवान् कहतें हैं सबके हृदय में, सबके अन्तःकरण में मैं प्रविष्ट हुआ रहता हूँ। बार-बार श्रुतियों ने यही कहा है 'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' प्राणियों को बना कर परमेश्वर खुद ही इसमें प्रविष्ट हुआ है। 'स्वयमेव जगद्भूत्वा प्राविशज्जीवरूपतः' जगद्रूप को धारण कर जीवरूप से ईश्वर ही इसमें घुसा हुआ है। 'ईश्वरो जीवकलया प्रविष्टो भगवानिति' पुराण भी कहते हैं कि जीव रूप कला से ईश्वर ही इसमें प्रविष्ट हुआ है। अतः 'सर्वस्य हृदि अहं संनिविष्टः' सबके हृदय में, सबके अन्तःकरण में प्रविष्ट आत्मा मैं ही हूँ। प्रश्न उठता है कि मनुष्य का हृदय तो छोटा सा है, अन्तःकरण भी छोटा सा ही है; उसमें परमेश्वर कैसे प्रविष्ट हो सकते हैं, उसमें प्रवेश कैसे सम्भव है ? एक बार जब भगवान् श्री कृष्ण छोटे थे तो अकस्मात् माँ से कहने लगे :

'मातः ! किं यदुनाथ ! देहि चषकं। किन्तेन ? पातुं पयः।
तन्नास्त्यद्य। कदाऽस्ति वा ? निशि। निशा का वा ? ऽन्धकारोदयः।
आमील्याक्षियुगं—निशाऽप्युपगता देही—ति मातुः पुनः
वक्षोजाम्बरकर्षणोद्यतकरः कृष्णः स पुष्णातु नः।।'

भगवान् बोले, 'मातः ! हे माँ' माँ ने कहा 'हे यदुनाथ ! क्या बात है ?' यह है बोलने का तरीका। आज की माताएँ अकस्मात् कहे 'माँ' तो बोलेंगीं 'क्यों माथा खाता है ?' भगवान् ने कहा 'हमें गिलास दे दो।' माँ बोली 'अच्छा गिलास चाहिए। गिलास का करोगे क्या ?' बिना मतलब के तो कोई चीज चाहिए नहीं, गिलास का क्या करोगे ? भगवान् बोले 'पातुं पयः' 'दूध पीना है। गिलास ले करके दूध पीऊँगा। दूध पीने के लिए गिलास माँग रहा हूँ।' माँ ने कहा 'तुझे दूध पिला दिया। अब आज और दूध नहीं मिलेगा।' आजकल समस्या है माँएँ दूध का गिलास ले कर बच्चे के पीछे दौड़ती हैं 'पीओ-पीओ-पीओ।' लड़का भागता है 'नहीं पीना, नहीं पीना, नहीं पीना!' परन्तु आज से ठीक तीस साल पहले भी विपरीत परिस्थिति थी। दूध, मक्खन इत्यादि छिपाकर रखना पड़ता था और बच्चे चुरा कर खा भी लेते थे। इतने बड़े परिवर्तन का कारण क्या ? कभी कोई विचार नहीं करता कि ऐसा क्यों? बच्चों की प्रकृति में यह परिवर्तन क्यों है ? उसके दो कारण हैं : एक तो जो आजकल दूध और मक्खन की उपलब्धि हो रही है उस दूध और मक्खन में वह स्वाद नहीं है। दूसरा कारण अव्यवस्थित भोजन होने से बच्चों को गलत चीजें खाने की आदत पड़ जाती है और जब एक बार गलत चीजें खाने की आदत पड़ गयी तो ठीक चीज खाने की प्रवृत्ति नहीं रहती। भगवान् को माँ कह रही है 'अब आज नहीं मिलेगा, आज का कोटा खत्म हो गया, पी लिया तुमने दूध।' 'अच्छा आज नहीं तो 'कदाऽस्ति वा ? फिर माँ कब मिलेगा ?' कहती है 'निशि' 'अब रात में मिलेगा शाम का जब दूध आयेगा, गरम हो जायेगा तब मिलेगा। सबेरे

का खत्म हो गया।' रात में मिलेगा सुनकर भगवन् बोले 'निशा का ?' 'माँ ! रात कहते किसे हैं ? कब आती है ?' माता ने कहा 'अरे जब अँधेरा हो जाता है न, तब उसे रात कहते हैं। सीधी सी बात है।' भगवान् ने कहा बस इतनी सी बात है ! अंधेरा हो जाने से रात हो जाती है ? उन्होंने दोनों आँखें बन्द कर लीं और बोले 'निशाऽप्युपगता' 'माँ रात आ गई,' अँधेरा हो गया तो रात आ गई। 'देहि' 'अब दूध दे दो। दूध दे दो।' यह कहते हुए वे माँ का पल्ला खींचने लग गये। ऐसे भगवान् कृष्ण हमारी रक्षा करें।

बिल्वमंगल इसके द्वारा परमेश्वर किस प्रकार हृदय में प्रविष्ट हैं यह बतला रहे हैं। सबके हृदय में विद्यमान परब्रह्म परमात्मा कहते हैं 'मातः' माता प्रमाता; हे प्रमाता ! जो सुख दुःख का भोग करता है, करने वाला है कर्ता है, शोक मोह इत्यादि का अनुभव करता है, उसे हम शास्त्रीय भाषा में कहते हैं प्रमाता—प्रमाणों से जानने वाला। मोटी भाषा में जीव कहते हैं। परमात्मा रात दिन हम लोगों को आवाज दे कर कहते हैं 'हे प्रमाता!' हृदय में बैठे हुए जो हैं। अगर उधर ध्यान चला जाए तो स्वभावतः हम कहेंगे 'किं यदुनाथ?' मुझे परमात्मा क्यों आवाज दे रहे हैं ? क्या उद्देश्य है ? क्या कह रहे हैं ? भगवान् कहते हैं 'देहि चषकम्' 'तू अपना जो हृदय रूप कटोरा है, हृदय रूपी गिलास है, वह मुझे दे।' हम लोग हृदय के अन्दर ही तो दुनिया भर की सब चीजें बटोर कर रखते हैं, वही तो एक कटोरा हमारा है। जन्म-जन्मान्तर से वही कटोरा हमारे साथ जा रहा है। जन्म-जन्मान्तर के सारे संस्कार हमारे हृदय के अन्दर, हमारे अन्तःकरण के अन्दर ही तो पड़े हुए हैं। भगवान् कहते हैं 'जो चषक है, जो तुम्हारे अन्दर यह हृदय रूप गिलास है, यह मुझे दो।' प्रमाता कहता है यह तो मैंने बहुत बटोर कर रखा है, बहुत सम्भाल कर रखा है। 'किन्तेन ?' आपको दे दूँगा तो आप क्या करेंगे ? मेरे तो यह बड़े काम की चीज है। इसी से मैं सारा व्यवहार करता हूँ।' भगवान् कहते हैं 'पातुं पयः' 'इसके द्वारा मैं

दूध ग्रहण कर लूँगा।' भगवान् वेद-व्यास ने दूध का तात्पर्य बतलाया है 'सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः। पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत्।।' श्री वेदव्यास कहते हैं उपनिषद् रूपी गायों का दूध भगवान् कृष्ण ने दुहा है जिसका नाम है गीता, श्रीमद्भगवद्गीता। यह जो सारी उपनिषदों का रहस्यमय ज्ञान है उसका विषय, उस रहस्यमय ज्ञान का विषय उसमें भरूँगा। तुमने अब तक अपने अन्तःकरण के द्वारा, प्रमाणों के द्वारा नाम-रूपात्मक सारे विषयों का ग्रहण किया है परन्तु दूध रूप से मुझे विषय किया नहीं औपनिषद पुरुष को तुमने जाना नहीं। महर्षि याज्ञवल्क्य का शाकल्य से वाद हुआ, यजुर्वेद में कथा आती है। शाकल्य बड़ा भारी कर्मकाण्डी था, जनक का राजपुरोहित था। उसने कर्मविषयक, उपासनाविषयक तरह-तरह के प्रश्न याज्ञवल्क्य से पूछे। पच्चीसों प्रश्न पूछे, सबका जवाब याज्ञवल्क्य ने दिया। अन्त में याज्ञवल्क्य ने कहा 'मैं तो एक ही प्रश्न पूछता हूँ 'तन्त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि' उपनिषदों द्वारा प्रतिपाद्य जो परमात्मतत्त्व है उसे तू जानता है या नहीं ? उसे बता। मेरा तो एक ही प्रश्न है।' शाकल्य सारी चीजों को जानने वाला होने पर भी परमात्मा के विषय को नहीं जानता था। औपनिषद पुरुष अर्थात् उपनिषदों द्वारा प्रतिपाद्य परब्रह्म परमात्मा। भगवान् कहते हैं 'तुम्हारे अन्तःकरण के अन्दर मैं उस दूध को ही डालकर उसका बिषय बनना चाहता हूँ, उसका ग्रहण करना चाहता हूँ।' जो अन्तःकरण अपने अन्दर औपनिषद पुरुष को ग्रहण करके उससे परमात्मा को विषय करेगा वही मुक्त होगा। प्रमाता कहता है, जीव कहता है, 'अभी मैं इसके लिए तैयार नहीं हूँ 'तन्नास्त्यद्य' अभी मेरा समय नहीं आया है। अभी मुझे परमात्म-ज्ञान कैसे हो सकता है !' कहता है 'निशि' 'आपने ही कहा है सारे प्राणियों के लिए जो निशा है उसमें संयमी जगता है। ऐसा संयम मुझे अभी प्राप्त हुआ नहीं है। संसार का लोप अभी हुआ नहीं है। अभी मैं तैयार नहीं हूँ।' भगवान् ने कहा 'तू जिस रात की बात कर रहा

है वह रात कहते किसको हैं ?' 'निशाका वा ?' जीव जवाब देता है 'अन्धकारोदयः।' 'सारा संसार जब मेरे लिए नहीं की तरह हो जाये, जैसे रात में संसार ढक जाता है ऐसे मेरा अन्तःकरण सर्वथा विषयों को ग्रहण नहीं करे, तब उपनिषद्-ज्ञान होगा।' भगवान् कहते हैं 'अरे ! अन्धकार के उदय में क्या कठिनाई है ! 'आमील्याक्षियुगम्।' दो ही रास्तों से तो तुम अन्तःकरण का सारा व्यवहार करते हो—प्रत्यक्ष और अनुमान। प्रत्यक्ष और अनुमान को छोड़ कर श्रुति-शरण हो जाओ तो बस हो गया अंधकारोदय। प्रत्यक्ष और अनुमान पर तुमने जो विश्वास कर रखा है वही तो तुमको श्रुति के ऊपर पूर्ण श्रद्धा वाला नहीं होने देता है। जैसे ही प्रत्यक्ष और अनुमान का भरोसा छोड़ो तो अंधेरा आ गया 'निशाप्यागता'। इसीलिए तू अपना हृदय मुझे दे। प्रत्यक्ष और अनुमान का चिन्तन छोड़ दे।' इस प्रकार प्रमाता के ऊपर पड़े हुए आवरण रूप वस्त्र को बार-बार हिला कर भगवान् कहते हैं 'अरे तू मुझे अपना विषय बना।'

इस प्रकार चषक के अन्दर, हृदय के अन्दर परमात्मा अपना दुहा हुआ ज्ञान रूप दूध डालने को तैयार हैं। हृदय सबके पास है। ऐसा नहीं है कि बड़ी साधना करने के बाद मिलेगा ! प्रमाता यही कहता है 'अभी मेरे अन्दर ये दोष हैं, कैसे जान पाऊँ ?' भगवान् ने कहा ऐसा नहीं है कि तेरा हृदय जब शुद्ध हो जायेगा तब मैं उसमें आकर बैठूँगा। 'सर्वस्य चाहं हृदि संनिविष्टः' मैं तो उसमें हर समय प्रविष्ट हूँ। प्रत्यक्ष और अनुमान के ऊपर विश्वास कर उस परम प्रमाण वेद पर तू विश्वास नहीं करता है।

जीव पूछेगा 'मुझे इस सत्य की याद क्यों नहीं रहती ?' भगवान् कहते हैं 'मत्तः स्मृतिः।' 'तू कोशिश कर रहा है कि वह स्मृति तू अपने पुरुषार्थ से कर ले। परन्तु तू इस बात को भूल जाता है कि परमात्म-विषयक निरन्तर प्रवाह बना रहना मुझ परमात्मा से ही सम्भव है, अन्यथा नहीं।' वैसे तो स्मृति शब्द का सामान्य अर्थ 'याद' होता ही है। परन्तु वेदान्तों में छान्दोग्य

उपनिषद् के अन्दर स्मृति का मतलब परमात्मा के स्मरण को, ज्ञान को ही प्रधान रूप से लिया गया है। इसी लिए कहा जब हृदय-ग्रंथि का विप्रमोक्ष हो जाता है तब स्मृति की प्राप्ति हो गयी। वैसे तो सभी स्मृतियाँ परमात्मा के द्वारा ही आती हैं; हमारे कर्म के अनुसार जब जिस चीज का भोग होना जरूरी होता है तब तदनुरूप ही स्मृति सामने आ जाती है। परन्तु यहाँ विशेष तात्पर्य है परमात्म विषयक स्मृति से। शुरू-शुरू में जब परमात्मतत्त्व का उपदेश दिया जाता है उस समय जो ज्ञान होता है वह आपात-ज्ञान है। वह संशय के द्वारा संदेह के द्वारा प्रत्यक्ष और अनुमान के द्वारा ढक जाता है। जब श्रवण-मनन-निदिध्यासन से संशय-विपर्यय हट जाते हैं तब वह ज्ञान ही पुनः प्रकट हो जाता है इसी लिए उसको स्मृति रूप ज्ञान कह देते हैं। भगवान् कहते हैं—यह मुझसे है। तू इस चिन्ता को छोड़ दे कि तू इसे कैसे पायेगा। तू तो केवल प्रत्यक्ष अनुमान का भरोसा छोड़ कर मेरा भरोसा कर, शास्त्र का भरोसा कर। जैसे ही ऐसा करेगा वैसे ही यह स्मृति तो मैं तुम्हें कराने वाला हूँ। परन्तु जब तक मुझसे विमुख रहेगा, मेरी तरफ दृष्टि नहीं करेगा तब तक 'अपोहनं च' ! जैसे ही तुम परमात्मा की ओर से मुँह हटा कर संसार की तरफ मुँह करते हो वैसे ही वह ज्ञान अपोहित हो जाता है, हट जाता है। रागादि दोषों से दुष्ट अन्तःकरण संसार के विषयों को ग्रहण करता है, परमात्मा को नहीं।

एक बड़ा सेठ था वल्लभदास। बहुत जगह उसका कारोबार था। प्राचीन काल के करोड़ों रुपयों का व्यापार था, आजकल के खरबों रुपये समझ लो ! उसको वृद्धावस्था आ गयी। तबियत कुछ खराब रहने लगी। उसने विचार किया यह सारा व्यापार किसे दूँ ?' उसके तीन लड़के थे। एक का नाम था कृष्णगुप्त, दूसरे का नाम था श्रीकान्त, तीसरे का नाम था शिवकान्त। वह चाहता था काम उसे दे जो काम ठीक तरह करे। मोह वाला व्यक्ति कार्य को नहीं देखता। अपने मोह को देखता है। 'मैंने जीवन में

चालीस साल काम करके कुछ खड़ा किया वह आगे कैसे बढ़े' यह दृष्टि तो हुई काम की दृष्टि। और 'काम ठीक चले या न चले, जिनके साथ मेरा मोह है उनको ही यह मिले'—यह है मोह की दृष्टि। यद्यपि तीनों उसके लड़के थे तथापि वह चाहता था काम उसे दिया जाय जो काम की उन्नति करे। इसी लिए विदेशों में ढाई सौ तीन सौ साल की पुरानी कम्पनियाँ चल रही हैं। मिल्कियत न जाने कितनों की बदल जाती है परन्तु वह कम्पनी वैसे ही चलती है। अपने यहाँ दो-तीन पीढ़ी में फर्म खत्म हो जाता है, कोई दूसरी कम्पनी बनती है, आगे बढ़ती है। कारण इसका यही है कि हम लोग काम की दृष्टि नहीं रखते। वल्लभदास की दृष्टि काम की ओर थी। उसने सोचा तीनों की परीक्षा कर देखें किसको देना उचित है। उसने तीनों को बुला कर दस-दस रुपये तीनों को दे दिये, सस्ता जमाना था। आज का जमाना हो तो हजार जोड़ लेना उसमें। और कहा यह जो अपना बैठक का कमरा है इसे तुम लोग पूरी तरह किसी चीज से भर दो।

सबसे बड़ा कृष्णगुप्त था। उसको पहला मौका मिला। उसने सोचा दस रुपया दिया है पिता जी ने, चार रुपये की पुआल ले आवें, घास ले आवें, उतने से भर जायेगा, छह रुपये अपने पास बच जायेंगे। भरना ही तो है ! उसने पुवाल से, घास से उसे भर दिया। पिता जी से आकर कहा 'पिताजी जरा चल कर देखिए। कहीं थोड़ी भी जगह नहीं है, बिल्कुल ठस भरा हुआ है।' पिता जी ने जा कर देखा तो घास भरी हुई थी ! कहने लगे 'अच्छा, ठीक है, अच्छा किया। अब इसकी सफाई करा दो।' श्रीकान्त को दूसरा मौका मिला। उसने विचार किया काम ऐसा करना चाहिए जो आगे कुछ फायदे का होवे। इस समय में ताजी रुई आ रही है। इस समय इस रुपये की रुई ले कर भर देंगे, बाद में पिता जी हटवायेंगे तो भी थोड़े दिनों के बाद जब रूई का भाव बढ़ेगा तब पच्चीस रुपये में बेच देंगे। उसमें कुछ नफा हो जाएगा। बेकार की चीज खरीदने से क्या फायदा। ताजी रूई से

उसने कमरा भर दिया। पिता जी से कहा 'मैंने भर दिया। चलकर देख लीजिए।' पिता ने देखा। उसने पूछा 'पिता जी इसे खाली करके गोदाम में रख दूँ ? आगे इसमें इतना फायदा हो जाएगा। मैंने लाभ की दृष्टि भी देख ली है।' पिता ने कहा 'ठीक है। अच्छा किया। रखवा दो गोदाम में।' अब जो सबसे छोटा था उसे कहा 'अब तुम्हारी बारी है।' उसने सोचा–पिता जी ने न गोदाम में रखने को कहा था न गोशाला में रखने को; उन्होंने बैठक के कमरे को भरने के लिये कहा है। वह गया एक बढ़िया दिया ले आया। रात के समय दिया जला कर कमरे में रख दिया। पिता जी से कहा 'मैंने भर दिया, आप चल कर देखिए।' तो पिता ने जा कर देखा। उसने कहा 'देखिए मैंने प्रकाश से इसे भर दिया।' बैठक के अन्दर तो प्रकाश ही भरा जाता है। पिता ने निर्णय किया–यही ठीक अधिकारी है। इसीलिए सबसे छोटा होने पर भी उसी को उन्होंने सारे कार्य को सम्भलवाया।

यह केवल एक वल्लभदास की बात नहीं है। परमात्मा के सब पुत्र हैं। वल्लभदास की जगह परमेश्वर को ही समझना। वह जब हम लोगों को मनुष्य जीवन देता है तो कहता है 'इस जीवन को भर दो। यह जो तुमको शतवार्षिकी मिली है, सौ बरस मिले हैं, इस सौ बरस के जीवन को तुम अच्छी तरह से भरो।' कृष्णगुप्त कहता है–'पशु-पक्षी तो पहनते ओढ़ते नहीं, मकान बनाते नहीं, टेलीविजन देखते नहीं। भगवान् ने मनुष्य शरीर दिया है, इस बुद्धि को दिया है, इसका खूब उपयोग कर विषय भोगों को खूब बढ़ाओ, विषय-भोगों से भर दो।' जो जितना ज्यादा विषय-भोग करे वह उतना ही ज्यादा अपने जीवन को भर रहा है। इसीलिए वे लोग कहेंगे–देखो क्या उन्नति अमेरिका वालों ने की है ! कितने अच्छे-अच्छे उनके पास विषय भोग हैं। हमारे पास तो हैं ही नहीं। हम भी अपने यहाँ विषय भोगों को बढ़ावें। अंग्रेजी नाम रख देते हैं 'कन्ज्यूमरिज़्म'। मायने क्या ? भोगवादी संस्कृति। उसमें सारा प्रयास इसके लिये है कि ज्यादा से ज्यादा भोग हम

ज़ोगों को मिल सके। यह भी जीवन को भरने का एक तरीका है। किसी से पूछो, हर-एक कहता है 'फुरसत नहीं है।' क्यों फुरसत नहीं है ? विषय-भोगों की प्राप्ति में लगे हुए हैं।

जो थोड़ा छोटी उम्र का है वह कुछ विचारशील है। वह कहता है ताजे से ताजे फल तो पक्षी खा लेते हैं। ताजे से ताजा अन्न पशु खा लेते हैं। बढ़िया से बढ़िया मकान बना लो पर बया का घोसला देखो कितना बढ़िया है ! एक बूँद पानी नहीं जाता। तुम बढ़िया से बढ़िया सीमेन्ट लगा लो, उसके ऊपर अलकतरा लगा लो, उसके ऊपर टाइल लगा लो और फिर कहते हो 'इस साल पानी बहुत बरसा, दीवाल चू गयी।' और बया का घोंसला कभी चूता नहीं। इसी लिए मनुष्य-जीवन कर्मभूमि है। यहाँ आए हो तो आगे के लिए कुछ न कुछ कमाई की सोचो। जैसे उसने रुई खरीदी थी, वैसे यहाँ आकर दान है, तप है, कर्म है—इसके द्वारा आगे हमको और ज्यादा सुख मिले, उन्नति होवे, इसके लिए प्रयत्न करो। वह इससे भरता है।

जो सबसे छोटा है वह विचार करता है कि कमाई तो होगी परन्तु आखिर मनुष्य शरीर को तो देवताओं से भी ज्यादा दुर्लभ बताया है। दान तपआदि करके हम देवता ही बनेंगे, इन्द्र बन जायेंगें ब्रह्मलोक चले जायेंगे। उन्नति तो हो जायेगी परन्तु यदि यहाँ के कर्मों से वहाँ जाना ही श्रेष्ठ होता तो क्यों मनुष्य जीवन को दुर्लभ कहा जाता है ? आचार्य शंकर कहते हैं 'दुर्लभं त्रयमेवैतत्' ये तीन चीजें दुर्लभ हैं 'मनुष्यत्वं, मुमुक्षुत्वं, महापुरुषसंश्रयः।' मनुष्यता दुर्लभ है। इसी लिए यह केवल आगे की कमाई के लिए नहीं, किसी ऐसी सुन्दरता को प्राप्त करने के लिए है जो विशेष शोभा की चीज है। वह विचार कर इसे ज्ञानरूप दीपक के द्वारा अज्ञानान्धकार नष्ट कर जो देवताओं को दुर्लभ है ऐसा परमात्म-साक्षात्कार प्राप्त करता है।

इसीलिए भगवान् ने कहा 'वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः'। वेदों के अन्दर संसार की, काम भोगों की प्राप्ति का भी रास्ता बतलाया है। वेदों के अन्दर

दान तपआदि करके स्वर्ग जाने का भी रास्ता बतलाया है। और वेदों के अन्दर परमात्म-ज्ञान प्राप्ति के साधन भी बताए हैं। भगवान् कहते हैं 'बाकी दो तो जो लोग विचारशील नहीं हैं उनके लिए हैं। वस्तुतः तो वेदों के द्वारा एक मात्र मैं जो परमेश्वर हूँ उसका ज्ञान करना ही कर्तव्य है। एक मैं ही जानने लायक हूँ, मैं ही साक्षात्कार करने लायक हूँ।' इसी लिए वेद के सिद्धान्तों का निर्माण करने वाला मैं ही हूँ 'वेदान्तकृत्'। 'वेदविदेव चाहं' 'वेदवेत्ता भी मैं ही हूँ।' इसके द्वारा भगवान् यह भी सूक्ष्म बात कहते हैं कि जो वेदान्त का उपदेश करने वाला गुरु है उसके अन्दर साक्षात् परमेश्वर है। सबके हृदय में है तो वेदान्त का उपदेश देने वाले, वेद जानने वाले के हृदय में है ही। फिर यहाँ उसका अलग उल्लेख करके कहते हैं कि वेदान्त के उपदेष्टा वेदज्ञ के अन्दर तो हमेशा ही परमेश्वरबुद्धि करनी चाहिए। इस प्रकार जब उसमें परमेश्वर-दृष्टि करते हैं तब उसके द्वारा जो उपदिष्ट ज्ञान है वह प्रत्यक्ष और अनुमान से होने वाले संदेहों को निवृत्त कर उस स्मृति को, ज्ञान को, स्पष्ट कर देता है। प्रत्यक्ष और अनुमान के द्वारा उसका अपोहन होता नहीं।

इस प्रकार भगवान् ने बताया कि सब प्राणियों में मैं हूँ सब प्राणियों के हृदय में मैं हूँ और जो परमात्मज्ञान वाले हैं उनके अन्दर तो मैं सर्वथा स्पष्ट स्फुट रूप से विद्यमान हूँ। सारे वेदों के द्वारा मैं परमात्मा ही ज्ञातव्य हूँ। हृदय को परमात्मज्ञान से भरने के लिए मनुष्य जीवन की प्राप्ति हुई है, मुख्य कार्य वही है। अन्य सारे कार्य गौण हैं।

प्रवचन—१७

भगवान् ने बताया कि जड और चेतन सब के अन्दर मैं व्यापक हूँ। चेतन मात्र में भगवान् की स्थिति है, फिर भी विशेषकर हृदय के अन्दर उनकी उपलब्धि होती है। उनसे ही स्मृति, ज्ञान, अपोहन इत्यादि होने से

यह शिष्ट है, यह भ्रष्ट है, इत्यादि विचारों को छोड़कर सर्वत्र परमात्म-दृष्टि करने को कहा। वेदान्त के उपदेष्टा जो वेदवेत्ता, उनमें मेरी विशेष अनुभूति प्रकट है, यह भी बतलाया।

अब जिस संसार वृक्ष को बताना आरंभ किया था वह इस सर्वव्यापकता से कैसे सम्बन्धित है, इस बात को बतलाते हैं—

द्वाविमौ पुरुषौ लोके
क्षरश्चाक्षर एव च।
क्षरः सर्वाणि भूतानि
कूटस्थोऽक्षर उच्यते।। १६।।

भगवान् कहते हैं—'लोके' जो कुछ भी अनुभव में आता है, वह सब लोक पद से कहा जाता है। जो दीखते हैं, प्रतीत होते हैं। प्रतीत होने वाले ब्रह्म-लोक, वैकुण्ठ-लोक से लेकर रसातल पर्यन्त जितने लोक हैं, वे सब इस "लोके" से आ गये। यहाँ जो कुछ है वह इतना ही है "द्वौ पुरुषौ' यहाँ दो पुरुष हैं। यहाँ दो पुरुष कह कर ठीक अगले श्लोक में भगवान् को कहना है कि इन दो से भिन्न तीसरा उत्तम पुरुष है। संस्कृत भाषा में, और सम्भवतः अनेक भाषाओं में, व्याकरण के अन्दर तीन पुरुष होते हैं। प्रथम पुरुष, मध्यम पुरुष, उत्तम पुरुष। प्रथम पुरुष—वह जाता है। मध्यम पुरुष—तुम जाते हो। उत्तम पुरुष—मैं जाता हूँ। इस प्रकार दो तो ऐसे पुरुष हैं जो अनुभव में आते हैं, 'इमौ'—'यह' रूप से कहे जा सकते हैं। 'वह' और 'तुम' ये दो दीखने वाले हैं, अनुभव में आने वाले हैं, और तीसरा अनुभवातीत है, सारे अनुभव को करने वाला है, परन्तु स्वयम् उसका कभी अनुभव होता नहीं। इसलिए महर्षि याज्ञवल्क्य कहते हैं—'विज्ञातारमरे! केन विजानीयात्' जो जानने वाला है उसे तुम किस साधन से जान सकते हो ? क्योंकि वह तो हमेशा जानने वाला ही रहेगा। यहाँ 'इमौ' कह कर

बतलाया कि जो अपने से भिन्न दृश्य कोटि की चीजें हैं, वे दो ही हैं। दूर होवे तो "वह", नजदीक होवे तो "तुम"। तीसरा जो उत्तम पुरुष है, उसका विचार अगले श्लोक में है। भगवान् भाष्यकार आचार्य शंकर भी इसीलिए, सूत्रभाष्य को प्रारम्भ करते हुए युष्मद् और अस्मत् यही विभाजन करते हैं। जिस अस्मत् का प्रत्यय होता है, वह देह आदि के साथ एकमेक हुआ है, इसलिए ही उसका अध्यास है। उससे भिन्न जो साक्षी है वही प्रतिपाद्य है सूत्रों द्वारा। जैसे वहाँ 'युष्मत्', 'अस्मत्' शब्दों का प्रयोग किया जो प्रायः चेतन चीजों के लिए प्रयुक्त होते हैं, उसी प्रकार यहाँ भगवान् ने भी 'पुरुष' शब्द का प्रयोग किया, जिसका प्रयोग चेतन के लिए होता है। अतः "क्षर पुरुष" का मतलब हुआ "क्षर" उपाधि है जिस "पुरुष" की। 'अक्षर पुरुष' का मतलब हुआ, 'अक्षर' उपाधि है 'पुरुष' की। वे दो कौन से ? तो कह दिया—'क्षरः च अक्षरः एव च।' क्षर मायने क्या ? सीधा मतलब है—जो झर जाए। जैसे नए घड़े में पानी रखो, और भूल से किसी ऐसे मकान में रह जाओ जहाँ गलीचा बिछा हुआ होवे, तो सवेरे मकान वाला कहेगा 'आपने गलीचा खराब कर दिया।' क्योंकि घड़े से पानी निकलता रहेगा, झरता रहेगा। इसी प्रकार जो चीज निरन्तर झरती रहे वह क्षर। झरने का मतलब है निरन्तर क्षीण होना, कम होना। क्षरण कब है ?—'क्षरः स्वकाले क्षरति' जिस समय वह चीज है उसी समय क्षर होती रहती है, झरती रहती है। किसी भी चीज को तुम चाहो कि 'मैं बचा कर रख दूँ, इसका क्षरण न होवे, यह बची रहे, जैसी है वैसी बनी रहे, तो यह कभी सम्भव नहीं है। इसलिए महत् तत्त्व से लेकर घड़े सिकोरे तक जितना भी कार्य वर्ग है वह सारा कभी भी जैसा है वैसा रह नहीं सकता।

वर्तमान काल में सब लोग कमर कस कर लगे हुए हैं किसी तरह इस क्षरण को बचा लेवें ! पहले भोजन बनता था। भोजन खा लिया। खाने के बाद जो बचा, नौकरों को दे दिया, और बचा, पशुओं को दे दिया। किसी

न किसी को खाने के लिए देना है। अब लोगों ने कहा–भोजन को बचाओ। एक ठण्डी आलमारी निकाली–रेफ्रिजरेटर; बच गया तो उसमें रख दो, भोजन बचा रहेगा। यह बचाने की कहाँ तक सीमा है ? गाँव के लोगों की कल्पना से परे है ! कहें तो शायद तुम लोग भरोसा भी नहीं करो। एक लड़की अमेरिका में अपनी मौसी के घर गई। एक दो दिन बाद मौसी ने उससे कहा–'स्टोर तो तुमने देख ही लिया है, डीप फ्रिज, उससे जाकर बनी हुई सब्जी ले आओ।' बनी हुई मायने पकी हुई; पका कर रख लेते हैं। 'लेकिन जो सबसे पुरानी तारीख वाली होवे वह पहले लाना।' उसने कहा 'ठीक है।' उसने सोचा हफ्ते भर पुरानी होगी, दस दिन पुरानी होगी; हिन्दुस्तान से गई हुई लड़की। जब वहाँ देखा, तो सात साल पुरानी सब्जी बनी हुई थी। उस पर भी तारीख पड़ी थी कि इस तारीख को यह सब्जी पकाकर रखी गई। उसने उलट-पुलट कर देखा, उसकी समझ में नहीं आया। फिर दूसरी देखी तो वह उसके अगले साल की थी। कहती है–'उस दिन के बाद मुझे तो खाना ही मुश्किल हो गया।' परन्तु क्या उस खाई हुई चीज में तत्त्व वैसे ही रह जाते हैं ? कैसे पता लगता है ? उसी ने बतलाया, 'एक बार निकाल कर बाहर रखो, तो घण्टे भर मे बिल्कुल खराब हो जाती है।'

इसी प्रकार कलकत्ते में हमारे एक व्यापारी हैं। उन्होंने कोल्ड स्टोरेज बनाया है, चीजें ठण्डी रखने के लिए। उसमें वे आलू स्टोर करते हैं। एक बार हम गए तो बातचीत में कहने लगे, 'अबकी बड़ा घाटा हो गया।' हमने कहा–'तुम्हारा घाटे का क्या काम है ? तुमने तो आलू अन्दर रख दिये, जब बिकेंगे तब बेच देना।' हँसने लगे, कहने लगे–'ऐसा नहीं है। जब साल भर आलू रह जाता है, तो फिर बाहर निकालने के बाद यदि दो दिन के अन्दर काम में न ले लिया जाए तो उसमें से पानी-पानी होकर निकलने लगता है। आलू बिल्कुल गल जाता है। उधर नया आलू आने लगता है, अगर उसे भरें नहीं, तो अगले साल के लिए क्या होवे ? और उसे तभी

भर सकते हैं जब पुराना आलू निकालें, वह पुराना आलू अगर बिके नहीं तो वह दो दिन में खतम हो जाता है। इसलिये घाटा होता है। लोगों को लगता है कि आलू कोल्ड-स्टोरेज में रखा रहता है पर निकालने के बाद जब दो दिन में ही पानी हो जाता है तब पता लगता है कि विकृति तो हो रही थी। मनुष्य चाहता है कि किसी न किसी तरह इस क्षरणशीलता को बचा लेवे।

केवल खाने पीने की चीज तक ही नहीं समझ लेना, कपड़ा भी चाहते हैं ऐसा बनावें कि कभी फटे नहीं। मिट्टी के तेल का कपड़ा बनाते हैं टेरीलीन, पोलिस्टर, नाइलोन; चाहे जितने साल पहनो फटता नहीं है, बड़े खुश होते हैं, बहुत बढ़िया कपड़ा है। हमने भी समझा बहुत बढ़िया कपड़ा होता होगा। एक डाक्टर थी पेथोलोजिस्ट। एक दिन अकस्मात् खबर आई कि वह मर गई। बिल्कुल बच्ची थी, पैंतीस साल की। हमने कहा—'वह तो अच्छी भली थी, हो क्या गया ?' पता चला वह प्रयोगशाला के अन्दर कुछ पेथोलोजिकल टेस्ट कर रही थी। बर्नर पलट गया। वह नाइलोन का चोगा पहने हुई थी। वह तो मट्टी तेल ही रहा ! नायलोन गल कर उसके शरीर के अन्दर घुस गया। रूई की तरह तो वह जलता है नहीं, वह तो गल जाता है। एक दो दिन में मर गई। तुम सोचते हो हमने ऐसा कपड़ा बनाया जिसका क्षरण नहीं होता लेकिन कपड़े का तो क्षरण होगा साथ में तुम्हारा भी क्षरण करता जाएगा ! फिर भी मनुष्य प्रयत्न करता है, चेष्टा करता रहता है। शरीर को भी क्षरण से बचाने का प्रयत्न करते हैं। आजकल एक इस प्रकार का ढंग निकाल कर तुम्हारे मुँह पर लगा देते हैं, "प्लास्टिक सर्जरी", झुर्री निकल जाए और लगे कि तुम जवान हो। बाद में जांघों में कितनी तकलीफ और कष्ट होता है यह दो चार साल के बाद पता चलता है। परन्तु यह सारा कार्य वर्ग क्षरण वाला ही है, इसको बचाने का कोई उपाय नहीं है।

आगे भगवान् इसलिए कह देते हैं 'क्षरः सर्वाणि भूतानि' सारे ही भूत

क्षरणशील हैं। भूत किसे कहते हैं ? जो भी चीज 'होती' अर्थात् बदलती रहती है उसे भूत कहते हैं; जो होती रहे अर्थात् बदलती रहे। आकाश से लेकर पृथ्वी पर्यन्त जितनी बाहर की चीजें दीख रही हैं सब भूत हैं। भाष्यकारों ने इस वर्ग को युष्मत्प्रत्ययगोचर शब्द से कहा है। हमारा शरीर भी उन्हीं महाभूतों से बना है, हमारी इन्द्रियाँ भी उन्हीं महाभूतों से बनी हैं, हमारा मन भी उन्हीं महाभूतों से बना है। शरीर, इन्द्रियाँ, मन इत्यादि सारे ''मैं' के साथ मिलकर प्रतीत होते हैं, 'अस्मत्प्रत्यय' के विषय बनते हें, तभी शरीर गोरा होने से 'मैं गोरा हूँ'; शरीर ब्राह्मण है तो 'मैं ब्राह्मण हूँ'; टाँग खराब हो गई तो 'मैं लंगड़ा हूँ', मन खराब हो गया तो 'मैं पागल हूँ'। आकाश से लेकर पृथ्वी तक जितनी चीजें हैं, वे तो 'वह, वह' कर प्रतीत होती हैं, और शरीर से लेकर अहंकार पर्यन्त जितनी चीजें हैं, मन बुद्धि आदि वे सब 'मैं' रूप से प्रतीत होती हैं। परन्तु ऐसा होने पर भी दोनों ही हैं पंचमहाभूत ही। इस लिए भगवान् ने कहा कि सभी भूत क्षर हैं। वे चाहे मैं लगते हों या यह लगते हों।

मनुष्य वाहर के आकाशादि पदार्थों के विषय में भी इस क्षरणशीलता को अगर याद रखे तब वस्तु का उसे कभी भी शोक हो नहीं। वस्तु की क्षरणशीलता का ज्ञान हमारे सामने सब समय नहीं रहता इसी से हम कंजूस हो जाते हैं, कृपणता यही है कि क्षर को हम क्षर रूप से नहीं जानते। इस कृपणता के कारण ही हमारे अन्दर लोभ बड़ी प्रधान भावना है। ब्रह्मा जी के पास एक बार देवता, राक्षस और मनुष्य इकट्ठे पहुँचे और प्रार्थना करने लगे 'हमें उपदेश दीजिए, हमारा क्या कर्तव्य है, हम क्या करें ?' ब्रह्मा जी ने विचार किया, ये इकट्ठे आ गए। एक को कुछ कहें, दूसरे की कुछ और कहें, तो एक-दूसरे की नकल करेंगे जिसे जो बतायेंगे उससे संतोष नहीं करेंगे। मनुष्य की विचित्र आदत है : अगर एक को कहें 'तुम दूध पियो', और दूसरे को कहें 'तुम मलाई खाओ', तो पहले वाला सोचेगा 'मलाई अच्छी

होती होगी' और दूसरा सोचेगा 'दूध अच्छा होगा।' इसलिये यदि इनको हम अलग-अलग बातें बतलाएँगे तो ये गड़बड़ करेंगे। क्योंकि तीनों की प्रकृतियाँ अलग हैं, तीनों के बन्धन अलग हैं, इसलिए एक ही शिक्षा तीनों को बताने से काम होगा नहीं। उन्होंने विचार कर एक ही शब्द तीन बार बोल दिया, 'द, द, द'। तीनों ने नमस्कार किया और चल दिए।

तीनों ने अपने-अपने संस्कारों के अनुसार अर्थ लगा लिए। ब्रह्मा जी ने विचार किया ये लोग चले तो गये, परन्तु पता तो लगाना चाहिए कि ये ठीक समझे कि गलत समझे। अब उन्होंने एक-एक को अलग-अलग बुलाया। देवताओं को बुलाया। पूछा 'द का मतलब तुम क्या समझे ?' देवताओं ने कहा 'हम लोग भोगी बहुत होते हैं, भोग में हमारी प्रवृत्ति होती है। इस लिए आपने कहा इन्द्रियों का दमन करो, इन्द्रियों पर नियंत्रण करो, भोग से बचो।' ब्रह्मा जी ने कहा 'ठीक समझे।' देवता कामप्रधान होते हैं, इसलिए उनके लिए यह उपदेश ही था कि तुम इन्द्रियों का दमन करो। "द" से उन्होंने "दम" समझ लिया। अब ब्रह्माजी ने राक्षसों को बुलाया, दानवों को बुलाया पूछा 'तुमने क्या समझा ?' दानवों ने कहा, 'महाराज हम लोग बड़े क्रूर हैं, दूसरे को कष्ट देना हमारा स्वभाव है, निष्ठुर हैं, इसलिए आपने उपदेश दिया–"दया करो"।' उसी "द" का अर्थ उन्होंने समझा "दया करो"। ब्रह्मा जी ने कहा–'ठीक समझे' फिर उन्होंने मनुष्यों को बुलाया, पूछा–'तुमने क्या समझा ?' मनुष्यों ने कहा–'हम लोग स्वभाव से लोभी होते हैं, इस लिए आपने कहा–'दान करो।' ब्रह्मा जी ने कहा–'ठीक है।' तो एक ही "द" से "दम", "दया", "दान" तीनों ने अपने-अपने अनुरूप अर्थ समझ लिया अपने संस्कारों के अनुसार। उपनिषद् तो आगे यहाँ तक कहती है कि वह उपदेश किसी एक काल में हो गया था ऐसी बात नहीं है। बरसात के दिनों में जब बिजली चमक कर गिरती है तो आज भी उसकी आवाज यही होती है– द द द। आज भी ब्रह्मा जी यह उपदेश

उस समय हम लोगों को देते हैं। 'तदेतदेवैषा दैवी वागनुवदति स्तनयित्नुः द द द इति, दाम्यत दत्त दयध्वमिति।'

लोभ की प्रवृत्ति क्यों है ? हम सोचते हैं जो चीज क्षर है उसको हम बचा लेंगे। लोभ रूप रोग कैसे दूर होवे ? आचार्य नीलकण्ठ लिखते हैं।—'न लोभस्योपचाराय मणिमन्त्रौषधादयः। मणिमन्त्रौषधश्लाघी सोऽपि लोभपरायणः।।' लोभ को दूर करने के लिए दवाई, उपचार, उपाय कोई मणि नहीं है। कोई खराब ग्रह आवे तो कहते हैं हीरा पहन लो, नीलम पहन लो, तो क्या कोई ऐसी मणि है जिसको पहने लेवें तो हमारा लोभ रूपी रोग दूर हो जाए? आचार्य नीलकण्ठ कहते हैं—कोई ऐसी मणि नहीं है। कोई मन्त्र होगा जिसका जप करने से शायद लोभ चला जाए ? कहते हैं—मन्त्र भी कोई नहीं है। कोई दवाई वगैरह होवे, जिसे खा लेवें तो लोभ चला जाए ? कहते हैं— कोई दवा इसके उपचार के लिए नहीं है। आपको कैसे पता लग गया, किसी के पास होगी ? कहते हैं देखने में आता है कि जो मणि मन्त्र और औषधियों की तारीफ करते हैं, प्रशंसा करते हैं, वे भी सब लोभ-परायण ही हैं! मणि बेचने वाला भी देखता है कैसे ज्यादा से ज्यादा हमें मिल जाए। मान्त्रिक भी सोचता है जजमान से कैसे ज्यादा से ज्यादा हमें मिल जाए। औषधि देने वाला भी समझता है, रोगी से हम ज्यादा से ज्यादा कैसे ले लेवें। एक चिकित्सक था, बुड्ढा हो गया, काम करना भी उसने छोड़ दिया अत्यन्त बुड्ढे हो जाने से। किसी ने उससे पूछा—'आपने अपने जीवन में किसी रोग का गलत निदान किया, किसी रोगी के आने पर, गलत उसका निदान किया ?' उसने कहा—'बस एक बार किया गलत निदान।' कैसे ? 'एक बार ऐसा हुआ कि रोगी से मैंने कहा—'भाई, पचास रुपये की दवाई है।' उसने बटुआ खोला, तो उसमें सौ रुपया था !' अगर पहले ही निदान ठीक होता कि सौ रुपये हैं, तो सौ रुपये बतलाता। इसलिए मणि, मन्त्र, औषधि आदि से अगर लोभ दूर होता तो उनका हो गया होता।

इसलिए ये तो उपाय हैं नहीं। लोभ के कारण मनुष्य की सब चीजों के बारे में दृष्टि बदलती है। यदि ऐसे व्यक्तियों को कभी कोई धर्म करने की इच्छा होवे तो कौन सा धर्म करना उनको अच्छा लगता है ? बिल्कुल उपवास करें, कुछ नहीं खावें। सूखा उपवास, पानी भी नहीं पियें। कठोर से कठोर तप बता दो तो कर लेंगे। भारत वर्ष में बहुत बड़ा एक धनी वर्ग है जैनियों का। उनके यहाँ जितनी साधना की प्रशंसा आएगी वह यही 'यह इकतालीस दिन भूखा रहा, यह अस्सी दिन भूखा रहा, यह सौ दिन भूखा रहा।' धर्म की प्रवृत्ति होगी तो लोभी को उपवास जँचेगा। नीलकण्ठ ने ही कहा है—

'शुष्कोपवासो धर्मेषु भैषज्येषु च लंघनम्।
जपयज्ञश्च यज्ञेषु रोचते लोभशालिनाम्।।'

कभी भी बीमार होंगे ओर कोई दवाई लेने की बात आएगी तो कहेंगे सबसे बढ़िया लंघन है। दवाई खरीदने जाओ तो पैसा खर्च होता है इसलिये कहेंगे—लंघन से अच्छी कोई दवाई नहीं। जब कभी कोई यज्ञ करने की बात आएगी तो कहेंगे—सबसे बढ़िया "जप यज्ञ" है, इससे बढ़िया और कुछ नहीं। उसमें न भगवान् शंकर को दूध चढ़ाना है, न कोई जौ चावल की आहुति देनी है। यज्ञ करना होगा तो उनको जप यज्ञ ही सबसे श्रेष्ठ लगेगा।

इससे ठीक विपरीत है दान। दान की क्या श्रेष्ठता है, कहाँ तक दान होता है, उसकी सीमा क्या है ? भगवान् शंकर का पूजन प्राचीन से प्राचीन संस्कृति मोहनजोदड़ो, हड़प्पा इत्यादि में भी मिलता है। प्राचनी काल में एक भील शिव भक्त था। पुराने साहित्य में जब भूमि का वर्णन करते हैं तो पहाड़ की भूमि एक मानते हैं, पहाड़ की तलहटी उपत्यका की भूमि दूसरी मानते हैं, नदियों की भूमि तीसरी मानते हैं, समुद्र का किनारा चौथा मानते हैं, इस प्रकार से हम लोग अपने भूगोल का वर्णन करते हैं। आजकल के भूगोल के अन्दर तो राजनीति प्रधान है, इसलिए भूगोल का वर्णन देश के

हिसाब से नहीं है, राजनीतिज्ञों ने जो कुछ भी राष्ट्र की सीमाएँ बना लीं, प्रान्तों की सीमाएँ बना लीं, राज्यों की सीमाएँ बना लीं, उसको लेकर है। परन्तु प्राचीन पुराण इत्यादि में देखोगे तो चार प्रकार से विभाजन करते हैं—पर्वत, पर्वत से नीचे उपत्यका, फिर जहाँ नदी बहती है, और अन्त में समुद्र। सृष्टि का जो प्रारम्भ है वह पहाड़ के ऊपर हुआ। जब प्रलय में सारा संसार समुद्र में डूबा तो हिमालय के उत्तुंग शिखर के ऊपर मनु अपनी नाव को बांध कर बैठे, और वहीं से फिर आगे जब समुद्र नीचे उतरने लगा, तब सृष्टि प्रारम्भ हुई।

दक्षिण में ऐसा ही एक पहाड़ है। वहाँ उस आदिम काल में भील रहते थे, आजकल जिनको आदिवासी कहते हैं। उस समय का उनका जीवन था धनुष बाण लेकर पशुओं को मार करके उसके द्वारा अपना गुजारा करना। चारों तरफ भयंकर पशु हुआ करते थे। या पशुओं को मारो, या पशु तुमको मारेंगे। शेर, बाघ, चीते वैसे ही घूमते थे जैसे हम लोगों के सामने कुत्ते, बिल्लियाँ घूमते हैं। वहाँ एक भील का पुत्र था, बड़ा प्रभावशाली था। बड़ा बहादुर था। पैदा तो वह उस युग में और उस जगह में हुआ लेकिन उसके प्राचीन संस्कार पता नहीं कैसे थे ! भगवान् शंकर अनेक भक्तों को सूअर के द्वारा आकृष्ट करते हैं। अर्जुन के साथ भी ऐसा ही हुआ था। जब वह तपस्या कर रहा था, तब उधर से सूअर निकला था, और उस सूअर को लेकर हुए विवाद को निमित्त बनाकर ही भगवान् शंकर ने उसको दर्शन दिया था। इस प्रकार से और भी एक दो जगह ऐसी लीलायें आती हैं। दक्षिण के इस भील का नाम था कण्णप्प। एक दिन कण्णप्प एक सूअर का पीछा कर रहा था। सूअर का मतलब ये सूअर नहीं समझ लेना जो गलियों में घूमते हैं। बड़े-बड़े दाँतों वाले बड़े भयंकर जंगली सूअर हुआ करते हैं। उसका पीछा करते हुए जा रहा था तो जितने उसके साथी थे सब पीछे छूट गये। घोर जंगल में अकेले पहुँचा। अन्त में उस सूअर को उसने मार

दिया। मार कर उसे नदी में धो कर उसने भूना। जब तक वह भून रहा था, तब तक उसे पहाड़ के ऊपर कुछ नजर आया। उसने सोचा वहाँ चल कर देखें।

वहाँ गया तो भगवान् शंकर का एक पिण्ड देखा, शिवलिंग था। उसके ऊपर कुछ पत्ते वगैरह पड़े हुए थे। भगवान् शंकर को देखते ही उसके हृदय में बड़ा प्रेम उठा। उसने सोचा 'जो मैंने पकाया है वह लाकर इनको खिलाऊँ।' नीचे जाकर वापस आया। तब तक देखता है वहाँ एक वृद्ध ब्राह्मण आया, उसने भगवान् शंकर का, पूजन किया, जल चढ़ाया, फूल चढ़ाए, भोग लगाया। वह छिप कर देखता रहा। उसने निर्णय किया कि भगवान् को खाली खिलाने से पूजन नहीं होता है, ये सब भी करना पड़ता है। दौड़ कर नीचे गया, नीचे सुवर्णमुखरी नदी बहती है। पुजारी तो कमण्डलु में पानी लेकर आया था, भील के पास तो बर्तन कोई था नहीं ! उसने सोचा—उनको पानी चढ़ाना पड़ता है, लेकिन पानी ले कैसे जाऊँ ? उसने अपने हाथ में चुल्लू में थोड़ा पानी भरा। एक हाथ में तो नैवेद्य के लिए मांस रखा, एक चुल्लु में पानी। जब पहाड़ के ऊपर थोड़ा चढ़ने लगे तो पानी खत्म हो जावे ! सोचने लगा कैसे पानी लेकर के जाऊँ ? थोड़ी देर में उसके मन में आया—कि अरे मेरे मुँह तो है, इसमें पानी भर लूँ!! उसने मुँह में पानी भर लिया। पहुँचा ऊपर। अब उसने देखा था कि जब उस वृद्ध ने पूजन किया था तो पहले ऊपर पड़े हुए फूल पत्ते सब हटा दिये थे। इसने भी सोचा—सब हटा दूँ। हाथ तो उसके मांस से भरे थे। काहे से हटावे ? उसने अपने पैरों से हटा दिया ! आचार्य शंकर लिखते हैं—'मार्गावर्तितपादुका पशुपतेरंगस्य कूर्चायते'। रास्ते में चलकर आये हुए पैर का जूता, उसमें बालू लगी हुई, उससे जब उसने निर्माल्य को हटाया तो भगवान् समझ रहे हैं अत्यन्त कोमल कूची से मेरी सफ़ाई कर रहा है। विचार करो—सारी सृष्टि जिसके आधार पर रात दिन चल रही है, उसको

क्या फर्क पड़ता है कि तुम कोमल तौलिये से पोंछो, या पत्थर से; उनको कोई फर्क पड़ना है ? वे तो देखते हैं कि वस्तुतः तुम्हारा भाव क्या है, अन्दर प्रेम कितना है। निर्माल्य हटा कर उसने जल चढ़ाया, अभिषेक किया। आचार्य शंकर कहते हैं–'गण्डूषाम्बुनिषेचनं पुररिपोर्दिव्याभिषेकायते'। गन्डूष कहते हैं कुल्ले को, मुँह में जो पानी लेते हैं। कुल्ले के पानी से अभिषेक हो रहा है और भगवान् शंकर समझ रहे हैं कि दिव्य अभिषेक हो रहा है, बड़ा बढ़िया अभिषेक हो रहा है ! उसके बाद नैवेद्य चढ़ाना था। भगवान् को चढ़ाने के लिए फूल भी लाया हुआ था। लेकर काहे में आता ? हाथ में तो जगह थी नहीं। फूलों को उसने अपने बालों में खोंस लिया था; वहीं से उसने भगवान् पर चढ़ा दिये। अब भोग लगाया। भोग लगाने से पहले उसने अच्छी तरह से देख लिया था कि पक कर मांस मुलायम हो गया है कि नहीं, कड़ा हिस्सा तो भगवान् को नहीं जाये। 'किंचिद्भक्षित-मांसशेषकवलं नव्योपहारायते'। ऐसा मांस का टुकड़ा चढ़ा रहा है जिसे थोड़ा सा खा कर देख लिया है। भगवान् शंकर समझ रहे हैं कि अत्यन्त ताजा उपहार दे रहा है, खाने की सामग्री दे रहा है !

कण्णप्प को भी इस पूजा से अत्यन्त आनन्द आया। एक बार किया। फिर दौड़ कर सुवर्णमुखरी नदी में गया, वहाँ से पानी भरा, ऊपर आया, फिर चढ़ाया। दिन भर यही करता रहा; चौबीस घण्टे, न सोना, न खाना। जब उस वृद्ध ब्राह्मण के आने का समय उसने देखा तो फिर छिप गया। पंडित जी तो एक बार आते थे पूजा करने के लिए क्योंकि घोर जंगल का मामला था। पंडित जी ने देखा–अरे ! भगवान् के ऊपर बालू भी पड़ी हुई है और वहाँ मांस के टुकड़े भी पड़े हुए हैं, किस दुष्ट ने ऐसा कर दिया? उन्होंने उसे अच्छी तरह से साफ किया, फिर मन्त्रों के द्वारा उसको पवित्र किया तब पूजा की और चले गये। वे गये और फिर इसने अपना काम शुरू किया। अगले दिन वे आए तो उन्होंने फिर वही हाल देखा। इस प्रकार

पाँच दिन तक निरन्तर यही करता रहा। अन्त में पंडित जी ने सोचा कि किसी बहादुर को लेकर आया जाये, जो शिवस्थान की रक्षा करे। पहले उन्होंने जानना चाहा कि यह करता कौन है। उस दिन पंडित जी पूजा करके गये और थोड़ी देर के बाद पीछे से छिप कर वापस आ गये देखने के लिये। भील के भयंकर स्वरूप को देख कर पंडित जी तो घबरा गये।

भगवान् शंकर ने विचार किया कि इसकी स्थिति का लोगों को पता लगना चाहिये। पंडित जी छिप करके ही देख रहे थे। उसने तो जो करना था वह किया। भोग लगा कर बड़ा प्रसन्न होकर नाच रहा था। तब तक देखता है कि भगवान् की जो आँख की जगह है, वहाँ से खून बह रहा है! 'अरे इनको यह क्या हो गया ? आँख से खून बह रहा है।' इधर-उधर चारों तरफ दौड़ा, जो कुछ बूटी वह जानता था, वह सब ला कर लगायी लेकिन कुछ फर्क नहीं पड़ा। बड़ा दुःखी हो कर सोच रहा था—क्या करूँ ? तब तक उसे याद आया कि अगर शरीर का जो अंग कट जाये उस जगह नया वही अंग लगा दिया जाता है तो ठीक हो जाता है। उसने झट अपने बाण से अपनी आँख निकाली और भगवान् की आँख पर लगा दी ! खून निकलना बन्द हो गया। अब पंडित जी तो काँपने लगे—इसने ऐसे आँख निकाल कर लगा दी जैसे मैं फूल चढ़ाता हूँ। बड़ी खुशी से वह नाचने लगा—ठीक हो गये भगवान्। थोड़ी देर में देखता है कि दूसरी आँख से खून निकल रहा है। उसने सोचा—अरे ! यह तो दूसरी आँख से निकलने लगा, लेकिन अब दवाई तो पता ही है, और दूसरी आँख भी अपने पास है ही। समस्या तो खाली है कि जब दूसरी आँख निकला लूँगा तो पता कैसे लगेगा कि कहाँ लगाना है ? उसने अपने पैर के अंगूठे से इशारा रखा क्योंकि हाथ से तो आँख निकालनी थी, कि कहाँ लगानी है आँख। जैसे ही दूसरी आँख निकालने लगा भगवान् ने प्रकट होकर कहा—"बस कर, बस कर, हो गया, हो गया !" पंडित जी के होश हवास ही खो गये।

विचार करो—भगवान् के लिए देने की उसकी कहाँ तक प्रवृत्ति है ! दूसरी आँख भी देने जा रहा था, उसको कोई भय नहीं कि घोर जंगल में रहता हूँ-चारों तरफ शेर आदि भयंकर प्राणी हैं, निरन्तर उनसे संघर्ष करके बचना है। दूसरी आँख जाने के बाद क्या जीवन संभव भी हो सकता था उसका ? लेकिन उसको कोई परवाह नहीं है। इस प्रकार परमेश्वर के प्रति देने की भावना जब होती है तब परमात्मा प्रकट हो जाते हैं। इस प्रकार के जीवन का वर्णन है जिसके द्वारा ही भगवान् ने आदर्श मान कायम रख दिया। आजकल के विचारक कहते हैं—धीरे-धीरे बुद्धि बढ़ती है। शास्त्रकार कहते हैं—धीरे-धीरे युग नीचे की ओर जा रहा है। अब विचार कर देखो कि आदिमकाल का जो वह भक्त हुआ और उसकी जो दान की दृष्टि हुई, क्या आज तक उससे अधिक दान करने वाला कोई देखने में आता है ? इस प्रकार जब सब कुछ परमात्मा के लिए देवे तब मनुष्य उन्नति को प्राप्त करता है, अन्यथा उसको बचाने में ही लगा रहता है जो स्वभावतः क्षयिष्णु है।

प्रवचन—१८

श्रीमद्भगवद्गीता के पन्द्रहवें अध्याय का विचार चल रहा है। भगवान् ने पुरुष की क्षर और अक्षर दो उपाधियाँ होने से उनको भी पुरुष शब्द से कहा। उसमें क्षर उपाधि का कल विचार हुआ था। क्षर अर्थात् कार्य, जिसका निरन्तर क्षरण होता रहता है। हमारे अनुभव में आने वाले संसार का स्वभाव है कि उसका क्षरण होता रहता है। हमारे अनुभव में आने वाले संसार का स्वभाव है क्षरण होना। हमने अपना स्वभाव बना लिया है उसे क्षरण से रोकने का प्रयत्न करना। उसका स्वभाव बहना और हमारा स्वभाव रोकना। अतः हमारे अन्दर लोभ की प्रवृत्ति अत्यधिक हो जाती है। यह कल बतलाया था।

दूसरी उपाधि जो हमें कभी छोड़ती नहीं वह है अक्षर। जो कुछ प्रकट है, दृश्य है, जिसकी प्रतीति होती है, वह तो सारा कार्य जगत् है। अक्षर के द्वारा जो हमेशा एक जैसा बना रहता है, जिसमें कभी कोई कमी आती नहीं, वह कारण अविद्या कही जा रही है। अनादि काल से अनन्तकाल पर्यन्त इस माया में से सृष्टि निकलती रहती है, परन्तु यह अक्षर बनी रहती है। प्रथम श्लोक के विचार में इसको कुछ विस्तार से बतलाया था। ऊर्ध्व हो गया परमात्मा और वह माया रूप मूल के साथ है तब "ऊर्ध्वमूल"। अतः वहाँ मूलाविद्या का विचार किया। उसी अविद्या को यहाँ पर अक्षर शब्द से कह रहे हैं। अक्षर शब्द से क्यों कहते हैं ? भगवान् खुद ही बताते हैं–'कूटस्थोऽक्षर उच्यते'। कूट कहते हैं ढेरी को। गेहूँ इकट्ठा करके एक जगह ढेरी लगा दो तो वह एक कूट हुआ। इसी प्रकार यहाँ महत् से लेकर व्यष्टि पर्यन्त स्थूल-सूक्ष्म सारा ही प्रपंच, समूची कार्यराशि एक ढेरी हो गई, कूट हो गया। जितना भी विकार है उस ढेरी के अन्दर सब जगह कारण रूप से व्याप्त करके रहती है इसलिए इस मूलाविद्या को प्रकृति को, कूटस्थ कहते हैं। कूट में जो स्थित होवे, कूट में जो रहे, उसको कूटस्थ कहते हैं। जैसे मिट्टी की चीजों की ढेरियाँ लगा दो, उन सब ढेरियों के अन्दर कारण रूप से मिट्टी रहती ही है। ढेरी में हर चीज अलग-अलग दीखती है परन्तु उन सब में क्या व्यापक है ? कारण रूप से मिट्टी ही व्यापक है। इसी प्रकार जितना विकार रूप संसार है सबके अन्दर परमेश्वर की माया शक्ति एक जैसी उपस्थित है। इसलिए कहा कि वह कूटस्थ है।

विशेषकर कूट शब्द का प्रयोग जो झूठी चीज होती है उसके लिए करते हैं। राजस्थानी में जो झूठ बोलने वाला होवे, उसको 'कूड़ बोलने वाला' कहते हैं, कूट का ही अपभ्रंश कूड़ है। जब तुम कोई राशि इकट्ठी करते हो, कोई ढेरी इकट्ठी करते हो, तो उसके अन्दर चीजें ढ़क जाती हैं। इसलिए कोई यदि पॉकेटमार, जेबकतरा, तुम्हारी जेब काट कर भागता है तो किधर को

भागता है ? जिधर सूनावाड़ा होवे, कोई होवे नहीं, खाली जगह होवे, उधर तेजी से भागता है ? दूर निकल सकता है, पर उधर नहीं भागता है। ज़िधर भीड़ होती है, उधर भागता है। यद्यपि वहाँ दूर नहीं भाग सकता, पर वहाँ वह छिप जायेगा। कई बार तो यहाँ तक देखा है कि वह खुद भी उस भीड़ में पहुँच करके जोर से चिल्लाने लगता है—'पकड़ो, पकड़ो, पकड़ो।' अब लोग उसे थोड़े ही पकडेंगे। वे तो आगे दौड़ जायेंगे। ढेरी में चीज छिप जाती है, पता नहीं लगती। इसी प्रकार यहाँ पर भगवान् उसको कूटस्थ कहते हैं, क्योंकि इस ढेरी के अन्दर वह माया ऐसी छिपी हुई है कि अपने को उसका पता चलता नहीं। सारा कार्य जगत् तो दीखता है परन्तु उसके अन्दर अनुस्यूत जो कारण है उसकी प्रतीति नहीं होती। और जैसा कहा—यह शक्ति ऐसी अक्षर है कि इसमें से अनादिकाल से अनन्त जगत् निकलने पर भी इसमें कोई कमी नहीं आई है। अगर कोई कहे इतनी सृष्टि की चीजें निकल आई हैं, अन्त में एक दिन जब माया खाली हो जायेगी तो हमारी मुक्ति अपने आप ही हो जायेगी ! यह कल्पना कभी नहीं करना, क्योंकि 'अक्षर उच्यते' अनन्त काल तक सृष्टि ऐसे ही निकलती रहेगी, इसमें कभी कमी आनी नहीं है। यह साक्षात् परमेश्वर की शक्ति है।

अगर यह समाप्त होनी नहीं है तो फिर हम क्या ऐसे ही बद्ध बनें रहेंगे? वेदान्त शास्त्र महान् आशावाद का शास्त्र है, इसमें निराशा की कहीं जगह नहीं है। अतः भगवान् कहते हैं—

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः
परमात्मेत्युदाहृतः।
यो लोकत्रयमाविश्य
बिभर्त्यव्यय ईश्वरः।।१७।।

'द्वौ इमौ पुरुषौ' से जिन्हें कहा था वे तो दोनों उपाधियाँ थीं। ये जिसकी

उपाधि हैं, उसे अब बताते हैं : वह उत्तम पुरुष है। उत्तम पुरुष अर्थात् जो हमेशा 'मैं' के साथ आता है। 'वह' और 'तुम' ये तो उपाधियाँ हैं और उपाधि वाला 'मैं' हूँ। अगर लौकिक दृष्टि से भी देखो, तो जो बोलने वाला है उसके सापेक्ष ही तो किसी चीज को 'वह' या 'तुम' कह सकते हैं। ओएल में बैठे हैं तो दिल्ली को कहेंगे, 'वह दिल्ली'। हमारे लिए दूर है, परोक्ष है, सामने नहीं है। परन्तु जो दिल्ली में रह रहे हैं उनके लिए तो दिल्ली 'वह' नहीं है, उनके लिए तो प्रत्यक्ष है। इसी प्रकार जो बोलने वाला है वह सामने वाले को 'तुम' कहता है। पर जब सामने वाला जवाब देता है तब वह किसको 'तुम' कहता है ? वह हमें 'तुम' कहता है ! इसलिये 'तुम-वह' ये बोलने वाले की अपेक्षा से व्यवहार में बदलते रहते हैं। 'मैं' शब्द भी किसी एक व्यक्ति से ही सम्बद्ध हो ऐसा नहीं। हम अपने को 'मैं' और तुम को 'तुम' कहते हैं। तुम अपने को 'मैं' और हमें 'तुम' कहते हो। अतः ये दोनों ही—प्रथम पुरुष और मध्यम पुरुष--सापेक्ष हैं।

उत्तम पुरुष का प्रयोग करने के लिए श्रुति कहती है 'अस्मात् शरीरात् समुत्थाय' जब इस शरीर से दूर हो जाते हो तब जो रहता है 'स उत्तमः पुरुषः' वह उत्तम पुरुष है। जब तक शरीर छोड़ा नहीं, उसमें हो तब तक तो उसे कभी 'मैं' कहते हो कभी 'मैं' से अलग कहते हो। 'मैं बीमार हूँ'। कभी अलग कर कहते हो—'मेरा शरीर कमजोर हो गया'। शरीर को कभी 'मैं' कहते हो, कभी 'मेरा' कहते हो। जब कहते हो 'मेरा शरीर', तो 'मेरा' अर्थात् 'मैं का' शरीर, मैं सम्बन्धी शरीर। इस तरह शरीर को 'मैं' से अलग करके ही कह रहे हो। इसी प्रकार कभी कहते हो—'मैं बड़ी दुःखी हूँ'। यहाँ मन के साथ एक होकर कह रहे हो। कभी कहते हो 'आज सबेरे पाँच बजे ध्यान करने बैठा, दो घण्टे तक बैठा रहा परन्तु मन विक्षिप्त ही बना रहा, मन लगा ही नहीं। मेरा मन आज ध्यान में लगा ही नहीं, मैं बैठा रहा।' यहाँ मन से अपने को अलग करके कह रहे हो, 'मैं' कोई हूँ जो ध्यान करने

बैठा था और मन अलग चीज है जो नहीं लगी।

कई बार लोग प्रश्न पूछते हैं, 'महाराज ! आप कहते हैं आधा घण्टा बैठो परन्तु मेरा मन तो बिल्कुल लगता ही नहीं, बैठने से कुछ फायदा है?' कहीं पढ़ भी लेते हैं—कि बिना मन लगे जप आदि आराधना करना निष्फल है, बेकार है। इसलिये पूछते हैं कि क्या मन न लगने पर भी जप करने से फायदा है ? करें या न करें ? हम उनको कहते हैं—'हमने न तो कहा कि तुम अपने मन को बैठाना, न हमने किसी और चीज को बैठाने के लिए कहा। हमने तो कहा कि तुम बैठो, तुम आधा घण्टा बैठना। 'मन को बैठाना' यह तो हमने कहा नहीं। जो मन की मर्जी होवे सो मन करे पर तुम बैठना मत छोड़ो। तुमको बैठने को कहा।' इसका उल्टा मतलब मत समझ लेना कि मन मत लगाओ ! मन लगाने की तो पूरी कोशिश करो। नियम से बैठना भी उसी के लिये एक उपाय है। उसकी महत्ता सुनना समझना, उसे बार-बार सोचना आदि और भी तरीके हैं जिनसे मन परमात्मा की तरफ लगे। यहाँ तो बता रहे हैं कि मनसे तुम स्वयं को कभी-कभी अलग भी समझते हो, अनुभव करते हो।

मैं ध्यान करने बैठा हूँ, मन नहीं लग रहा है यह स्वयम् ही एक ध्यान है। तुम मन से अपने को अलग करके जान रहे हो कि मन नहीं लग रहा है, यही तो परमात्मदेव का ध्यान है। आचार्य शंकर प्रश्न खुद ही करते हैं—'को देवः ?' देव कौन है ? जिसका ध्यान, भजन, पूजन, चिन्तन करते हैं वह है कौन ? स्वयम् जवाब देते हैं—'यो मनःसाक्षी' मनका साक्षी ही देव है। मनःसाक्षी—जो मन को जान रहा है। मन ध्यान कर रहा है या नहीं इसे जो जान रहा है कि आज मन ध्यान में बड़ा बढ़िया लगा या बिल्कुल नहीं लगा, वह देव है। मन तो देव है नहीं। मन लगना-न लगना दोनों को जानने वाले तुम देव हो। जब तुम मन को देख रहे हो कि लग रहा है या नहीं लग रहा है, दोनों स्थितियों के अन्दर तुम तो एक जैसे हो। इस लिए

उपनिषद् में कहा 'ध्यायतीव लेलायतीव'—मन ध्यान करता है तब 'ध्यान कर रहा हूँ' ऐसा लगता है; जब मन लपक कर इधर-उधर दौड़ता है उस समय तुम भी लपकते हुए की तरह दीखते हो। वस्तुतः न ध्यान करने से तुम्हारे में कोई विशेषता आनी है, न मन के चंचल होने से तुम्हारा कुछ नुकसान होना है। मन के साथ मिलना यही तुम्हारा सबसे बड़ा नुकसान है। मन को देखते रहो। इसलिए श्रुति ने कहा—'अस्मात् शरीराद् उत्थाय' स्थूल व सूक्ष्म दोनों ही शरीरों से उठकर। स्थूल शरीर जो दीखता है अन्नमय। सूक्ष्म शरीर—जिसके सहारे ज्ञान, क्रिया, विचार आदि होता है। इनसे समुत्थान करके, संप्रसन्न हुआ जो अपने स्वरूप में स्थित है 'एष सम्प्रसादः अस्माच्छरीरात् समुत्थाय, परं ज्योतिः उपसम्पद्य स्वेन रूपेण अभिनिष्पद्यते, स उत्तमः पुरुषः' वही 'अहम्'-इस शब्द से कहा जाने वाला, परिलक्षित होने वाला उत्तम पुरुष है, उसी को पुरुषोत्तम कहते हैं। संस्कृत में चाहे उत्तम पुरुप कहो, चाहे पुरुषोत्तम कहो एक ही बात है। इसलिए कहा—क्षर और अक्षर दोनों से भिन्न यह उत्तम पुरुष है।

'उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः'। इस उत्तम पुरुष को ही परमात्मा भी कहा जाता है। यह साक्षी कभी भी 'मेरा' शब्द से या 'तुम' शब्द से या 'वह' शब्द से नहीं कहा जा सकता; यह तो हमेशा 'मैं' ही रहेगा। जानने वाला जो साक्षी मैं, व 'मैं' ही रहेगा, कभी 'मेरा' नहीं बन सकता, वह न 'युष्मत्' बनेगा, न 'तत्' बनेगा। इस लिए यह परम् आत्मा है। अनेक चीजों को समय-समय पर आत्मा शब्द से कहते हैं। कोई नौकर आदि हो जो ठीक वैसा काम करे जैसा हम चाहते हैं तो उसको भी कह दिया जाता है—'ममात्मा भद्रसेनः' भद्रसेन को तो मेरा आत्मा ही समझो ! आजकल के जमाने में मुख्तारनामा या पावर ऑफ एटर्नि जिसे लिख दिया वह समझ लो। उसका मतलब क्या ? यह जो कुछ भी दस्तखत करेगा वह मेरा दस्तखत माना जाएगा। इसलिये वह भी मेरा आत्मा हो गया, उसका दस्तखत मेरा

दस्तखत है। परन्तु ऐसा हमेशा के लिए तो नहीं है। छह महीने के बाद उसका कोई काम हमें पसन्द नहीं आया, हमने उसे निकाल बाहर किया, पावर ऑफ एटर्नि, वापस ले ली। तब उसे नहीं कहते 'यह मेरा आत्मा है'। इसी प्रकार बेटे को भी आत्मा कहते हैं। शास्त्र में भी आता है 'आत्मा वै पुत्र नामास'। परन्तु वह भी हमेशा आत्मा नहीं है। कहीं-कहीं आत्मा है, परन्तु हर जगह वह हमारा आत्मा नहीं होता है। हम मर गये, उसने हमारे नाम से संकल्प करके गऊ-दान कर दिया, भूमि-दान कर दिया, तो उसका फल हमें मिल जाएगा क्योंकि वह हमारा आत्मा है। परन्तु मान लो उसने संकल्प किया 'मैं अपने पिता जी की तरफ से इस ब्राह्मण को मार रहा हूँ' और ब्राह्मण को मार दिया। अदालत में कहे 'जी हमने अपनी तरफ से नहीं मारा है, हमने पिताजी की तरफ से मारा है, उनको पकड़ो!' तो क्या छूट जायेगा ? यदि वह गोदान देगा तब तो जायज है, लेकिन ब्रह्महत्या कर देगा तो उसका अधिकार उसे नहीं है। पुत्र आत्मा है, परन्तु ऐसा नहीं कि हमेशा हमारा आत्मा हो।

अपना शरीर भी आत्मा है। शरीर को कोई चन्दन लगाता है तो हम मानते हैं हमारी पूजा कर रहा है। परन्तु वह भी हमेशा नहीं है। जब हम इस शरीर को छोड़कर चले जाते हैं तो सब बच्चे मिलकर क्या करते हैं ? शरीर की पूजा करते हैं ? आग में झोंक देते हैं। तो क्या हम यह मानते हैं कि लड़कों ने मुझे जला दिया ? शरीर भी हमेशा मेरा आत्मा नहीं है। कोई लड़के नालायक हो जावें, मुझे न जलावें; तो भूत बनकर भी आकर कहते हैं, 'तुमने हमारा श्राद्धपिण्ड नहीं किया, हम तुम्हारे सिर पर चढ़ेंगे नहीं तो हमारे लिए भागवत कराओ, हमारी गति नहीं हुई है।' जलावें तो यह नहीं कहते कि 'मुझे क्यों जलाया'। अतः शरीर भी हमेशा आत्मा नहीं है। मन भी सदा आत्मा नहीं है। अभी बतलाया ही—मैं ध्यान करने बैठा और मन नहीं बैठा।

परन्तु जो 'मैं' हूँ वह तो हमेशा मैं ही रहूँगा, वह तो कभी 'मेरा' नहीं हो सकता। इस लिए कहा—बाकी सब भी आत्मा हैं, परन्तु यह परम आत्मा है अर्थात् हमेशा आत्मा ही है।

'यो लोकत्रयमाविश्य' तीनों लोकों के अन्दर जो कुछ भी है, उन सबके अन्दर प्रविष्ट हुआ 'अव्ययः ईश्वरः बिभर्ति' सब को धारण करता है। जैसे ही इस कूटस्थ भाव को जान लिया, उत्तम पुरुष को जान लिया, इसका जो मूल कारण अज्ञान था उसको हटा दिया, वैसे ही इस सारे संसार में तुम ईश्वर की तरह हो, अव्यय हो! जब तक तुम शरीर, प्राणादि के साथ अपने अहंकार को रखे हो तब तक तो तुम्हारा अहंकार बार-बार तुम्हें दुःख देता है। और जैसे ही 'अस्मात् शरीरात् समुत्थाय' इन दोनों शरीरों से तुमने अपना समुत्थान कर लिया, वैसे ही ठीक विपरीत हो जाता है। अपने इस परमात्मस्वरूप के अन्दर 'मैं' को स्थित करना है। यही वास्तविक अहम् है।

जब तक नकली 'अहम्' को—मन, शरीर आदि को—सच्चा 'मैं' मानते हो तब तक ही दुःख भय आदि हैं। आजकल रबड़ से बना साँप मिलता है, खिलौना है। दूर से देखो तो बिल्कुल साँप लगता है। 'भित्तिचित्रकृतं सर्पं दृष्ट्वा बालः पलायते।' साँप के बने चित्र को देख कर बालक भय से दौड़ता है। कोई बड़ी उम्र का लड़का आ गया, उसने जैसे ही इसे डरते देखा तो पूछा—'अरे ! किसके डर से दौड़ रहे हो ?' उसने साँप की ओर इशारा किया। वह बोलता है 'केनचिद् बालकेनोक्तं चित्रसर्पोऽयमित्युत!' 'अरे यह तो चित्र-सर्प है, सच्चा साँप नहीं है। साँप की शक्ल में बना हुआ रबड़ है। यहाँ साँप का लवलेष नहीं है।' अब वह बालक उस बड़े बालक की बात पर विश्वास करता है कि यह ठीक बात है, पास जाकर देखता है। उस दिन के बाद क्या वह उससे डरता है? 'तेनैव सह खेलति' जिस साँप से डर रहा था, उसी से खेलता है, वह खिलौना हो गया। जब तक

वह सच्चा साँप था तब तक तो उसे भय ही देता था और अब उसके खेलने का साधन हो गया। ठीक इसी प्रकार 'तथात्मस्थमहङ्कारं श्रुत्वा मूढः पलायते।' इस सारे जगत् और अहंकार अर्थात् मन, इन सबको जब तक सच्चा समझता है, तब तक मूर्ख दौड़ता है उससे दूर। कहीं समाधि लगाओ, मन से दूर दौड़ो, चित्तवृत्ति का निरोध करो, उससे दौड़ो। कहीं जंगल में दौड़कर जाओ, जहाँ कोई चीज दीखे नहीं, तो हमारे लिये झंझट पैदा नहीं करेगी। बहुत से लोग कहते हैं, 'इस जगह पर बड़ी झंझट है, एकान्त में जाकर बैठेंगे तो बड़ा अच्छा हो जाएगा।' कोई समाधि में भागता है, कोई जंगल में भागता है। कोई इन दोनों में रुचि या सामर्थ्य वाला नहीं होता है तो सोचता है चलो यह जन्म तो किसी तरह निकाल लो, आगे भाग कर वैकुण्ठ पहुँच जायेंगे। 'मूढः पलायते' जितने अज्ञानी मूर्ख लोग हैं वे तो दौड़ते हैं। वे समझते हैं कि इन्द्रियों और मन का निरोध करने से कुछ सुख मिल जायेगा परन्तु वह सुख नहीं है, वह तो सुखाभास है। जो प्रत्यक् चेतन है, जिसे यहाँ उत्तम पुरुष परमात्मा कहा, वह सब अवस्थाओं में एक जैसा ही है। प्रत्यक् चेतन के भान में तो कहीं फरक है नहीं। जो इस बात को जानता है उसे न समाधि की कामना होती है न एकान्त-गमन की कामना होती है। उसको किसी प्रकार की चीज विक्षिप्त नहीं कर सकती है, व्यवहार से उसके अन्दर कोई परिवर्तन नहीं।

यदि ऐसा न हो तो उसकी पूर्णता क्या हुई ? कौड़ी जितनी आँख को बन्द करें तो हम भगवान् के साथ हो गए और कौड़ी जितनी आँख खुल गई तो हम संसार के साथ हो गए ! यह कोई भगवान् के साथ होना थोड़े ही हुआ ! या जो अत्यन्त क्षुद्र अणु मन है, उसे छोड़ देवें तब तो हम प्रत्यक् चैतन्य हो गए और यदि उस मन के साथ हमने कोई भी क्रिया कर ली तो हम प्रत्यक् चैतन्य नहीं रहे ! विचार करके देखो : प्रत्यगात्मा संसार के सब पदार्थों को अपनी सत्ता से सत्ता वाला कर रहा है। सब पदार्थों को,

सारे ब्रह्माण्ड को सत्ता कौन दे रहा है ? यह परमात्मा दे रहा है। जिसको हम सत्ता दे रहे हैं उससे हमको डर लगेगा क्या ? जो हमारी ताकत से ताकत वाला है, उससे क्या भय हो सकता है ? इस लिए इस संसार के विषय में 'तत्र सद्गुरुणा प्रोक्तं चिदेवास्तीह नेतरत्' जैसे ही सद्गुरु ने समझा दिया कि ये सब जो अनुभव में आ रहे हैं वे ज्ञानातिरिक्त कहीं कुछ हैं नहीं, 'नेतरत्' और कुछ है ही नहीं, वैसे ही संसार का ये सब कुछ उसके लिए खेल ही खेल हो जाता है। जिस सर्प से भय खाता था उससे जैसे बालक खेलने लग गया, वैसे ही इस सारे संसार से पहले जो भय खाता था, जैसे ही मूढता हट गई वैसे ही यह सारा संसार उसकी क्रीडा स्थली हो गई। इस लिए कहा है—'यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः।'

इस सबको धारण करने वाला ईश्वर अर्थात् सारे जगत् को सत्ता देने वाला मैं हूँ, इस बात को वह जान लेता है। इसलिए सारा जगत् उसके खेलने की जगह है, क्रीडा की जगह है।

भगवान् इसी बात को कहते हैं—

यस्मात् क्षरमतीतोऽहम्
अक्षरादपि चोत्तमः।
अतोऽस्मि लोके वेदे च
प्रथितः पुरुषोत्तमः।।१८।।

क्षर जो कार्य जगत् है उससे मैं अतीत हूँ। पहले जो उत्तम पुरुष के बारे में 'शरीरात् समुत्थाय' कहा था उसी को यहाँ कह दिया अतीत हूँ, क्षर से अतिक्रान्त हूँ। क्यों अतिक्रान्त हूँ ? ये सभी अनित्य हैं और मैं नित्य हूँ। एक बार बहुत से केंचुओं ने मिलकर एक मीटिंग की सभा कीः भारत के संविधान में अब जात-पांत हटा दिया गया है अतः जैसे हम, वैसे साँप। हम भी रेंगकर चलते हैं, वे भी ऐसे ही रेंग कर चलते हैं। हम भी मिट्टी खाते हैं

वे भी यही करते हैं। ये साँप लोग हमसे ब्याह नहीं करते, यह भेद-भाव नहीं चलेगा। इसलिए हम साँपों से कहेंगे, "अब तुमको हमारे साथ ब्याह-शादी चालू करना पड़ेगा, संविधान मानना है। नहीं तो हम मुकदमा चलायेंगे तुम्हारे ऊपर।" उन लोगों ने अपना एक डेलिगेशन बनाया, दस-पाँच केंचुए इकट्ठे हुए, साँपों के पास पहुँचे। साँपों से कहा—"अरे ! हम तुमसे मिलने आए हैं।" साँपों ने पूछा—"क्या बात है ?" वे बोले—"हम लोगों ने ऐसा प्रस्ताव पास कर दिया है कि अब हमसे तुमको शादी-ब्याह करना पड़ेगा भेद-भाव नहीं चलेगा।' साँपों ने विचार किया—सीधे मना करेंगे तो पुलिस पकड़ ले जाएगी। सोचने लगे अब इनको क्या जवाब दें? एक बुड्ढा साँप था, उसने केचुओं से कहा—"भाई! बात तो ठीक है, हम भी भारत के रहने वाले हैं, संविधान तो मानना ही होगा। परन्तु हम लोगों के अन्दर कुछ रिवाज है, उस रिवाज के अनुसार काम हो।" उन्होंने कहा—"ठीक है।" तो उसने कहा—"हम लोगों के सावे—हम लोगों का विवाह का समय—जेठ महीने में होते हैं, इसलिये ब्याह-शादी करेंगे लेकिन जेठ में करेंगे।" अब जेठ में केंचुए होते ही नहीं, तो ब्याह कैसे हों ! साँप तो साल भर रहेंगे, केंचुए नहीं रहेंगे। ठीक इसी प्रकार आत्मा 'मैं' तो नित्य हूँ और क्षर अनित्य है, आता-जाता है, इसलिए इससे मैं अतीत ही रहूँगा, अतिक्रान्त ही रहूँगा। इसी प्रकार क्षर जो माया, उसको मैं निरन्तर चलाने वाला और वह चलने वाली। इसलिए—'अक्षरादपि चोत्तमः' उस अक्षर से भी मैं उत्तम हूँ। 'अतः' इस प्रकार उत्तम होने के कारण ही लोक में भी मुझे पुरुषोत्तम कहा जाता है और वेद में भी मेरा नाम पुरुषोत्तम;जब क्षर-अक्षर से अतिक्रान्त हो जाता है तब पुरुषोत्तम भाव को प्राप्त हो जाता है, फिर पुरुष नहीं, पुरुषोत्तम हो जाता है। 'हो जाने' का मतलब भी याद रखना कि 'पहले नहीं था अब हो गया' ऐसा नहीं वरन् पहले भ्रम से स्वयं को इनसे एकमेक समझ रहा था उस भ्रम का सकारण निवारण हो जाता है।

प्रवचन—१९

श्री भगवान् ने बताया कि क्षर अर्थात् कार्य-जगत्—जो हमारे अनुभव का विषय है—और अक्षर अर्थात् इसका कारण माया; इन दोनों से जो अतीत है वही पुरुषोत्तम तत्त्व है। उस उत्तम पुरुष को ज़ानने का क्या फल है? यह अब बताते हैं—

यो मामेवमसंमूढो
जानाति पुरुषोत्तमम्।
स सर्वविद् भजति मां
सर्वभावेन भारत ! ।।१९।।

'इस प्रकार'—क्षर और अक्षर दोनों से अतीत पुरुषोत्तम तत्त्व को जो 'इस प्रकार' जानता है वह असंमूढ है। 'इस प्रकार' मायने कैसे ? जो यह दीखने वाला जगत् है, इससे संमूढ हुए बिना जानता है। आचार्य बताते हैं 'देहेन्द्रियादिषु अहं-ममेतिबुद्धिर्यस्य स मूढः, तद्विलक्षणः असंमूढः।' शरीर, इन्द्रिय, मन बुद्धि को जो अपना स्वरूप मानता है उसे ''संमूढ'' कहते हैं। शरीर के साथ आत्मा का सम्बन्ध है पर जानना जरूरी है कि यह सम्बन्ध है क्या ?यह सारा संसार माया का घर है तो परमेश्वर का क्या हुआ ? पत्नी का घर परमेश्वर का क्या हुआ ? ससुराल हुआ ! संसार माया का घर है, परमेश्वर का ससुराल है। और माँ का घर होने से जीव का ननकाना है, नाना का घर है। ससुराल में कैसे रहना चाहिए ; मामा, नाना के साथ कैसे रहना चाहिए, यह पता होना चाहिए। ससुराल में सुख तो बहुत है, परन्तु जैसा सुख घर में हर समय मिलता है, वैसा सुख ससुराल में नहीं है। सुख तो बहुत मिलेगा लेकिन तब जब वहाँ दो-चार दिन रहोगे। इस लिए नीतिशास्त्र में बताया गया है—'श्वशुरगृहनिवासो सर्वसौख्यं ददाति' ससुराल जाकर रहो तो बहुत सुख मिलता है। बड़ी अच्छी तरह से सेवा

होती है। परन्तु–'यदि वसति विवेकी पञ्च वा षड् दिनानि' यदि विवेकपूर्वक वहाँ पाँच-छह दिन रहे तभी। परन्तु यदि जा कर 'दधिमधुघृतलोभःद् मासमेकं निवासे' प्राचीन काल की बातें हैं; वहाँ बढ़िया दही खाने को मिलेगा, घर में तो प्रायः मट्ठे में से घी, मक्खन, निकाल लिया जाता है और छाछ पीने को दे देते हैं, परन्तु ससुराल में जाओ तो दही की गाढ़ी लस्सी में ऊपर से और मक्खन रख कर देंगे। इसी प्रकार मधु, शहद खाने को मिलता है। खूव बढ़िया घी मिलता है; मक्के की रोटी में भी घी, साथ में सरसों के साग में भी ! इस सब से लोभ हो जाता है पाँच-छः दिन की जगह यदि महीना रह जाये तो क्या होता है ? बुरी सी बात है ! 'स भवति खरतुल्यो मानवो मानभंगः' फिर उसकी हालत खर अर्थात् गधे की तरह हो जाती है। फिर कोई सम्मान नहीं मिलता। हिन्दी भाषा में भी कहते हैं–"ससुराल सुख का सार, गर रहे दिन दो चार"। ससुराल है तो सुख का सार पर दो चार दिन रहो तभी। "गर रहे माह पखवार" अगर एक महीना या पखवाड़ा रह जाओ तो "हाथ में खुरपी सिर पर भार" कहेंगे भाई ! घास खोदो।

परमेश्वर इस बात को जानते हैं इस लिए परमेश्वर ससुराल में कभी-कभी आते हैं। प्रायः तो वे संसार से तटस्थ, उदासीन होकर इससे अतीत ही रहते हैं। कभी बड़ी आवश्यकता हुई तो राम, कृष्ण आदि रूप लेकर आते हैं, परन्तु जिस काम के लिए आते हैं, उस काम को करके फिर वापस चले जाते हैं। यहाँ टिकते नहीं हैं। जीव यहाँ आकर इस बात को भूल जाता है कि यह तो नाना का घर है, यहाँ टिक नहीं जाना चाहिए। वह बेचारा आसक्तिपूर्वक यहीं रह जाता है। जब यहाँ रहेगा तो मामा लोग इससे चाहे जैसा व्यवहार करेंगे ही। मामा भी इसके कम नहीं हैं। कहावत है–"सात मामा का भान्जा भी भूखा रहता है।" इसके भी यहाँ सात मामा हैं–काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य और अज्ञान, कार्याविद्या अर्थात् अभिमान–ये सात मामा इसके हैं क्योंकि ये सब माया के भाई हैं। इस

सारे संसार के व्यवहार को चलाने वाले ये ही हैं।

किसी न किसी चीज की कामना जीव को हर समय रहती है। जब वह कामना पूरी नहीं होती तब क्रोध आता है। और यदि पूरी हो गई तो लोभ आता है। कोई कामना पूरी हो गई तो चाहते हैं हमेशा पूरी होती रहे; लोभ आया। और यदि उसमें रुकावट किसी भी तरह से आई तो क्रोध आता है। छोटे में ही देख लो। बच्चा कहता है—"मेरे को चाँकलेट दे दो।" अगर माँ ने कहा—'आज सबेरे तुमने चाँकलेट खा लिया है। दाँत खराब हो जायेंगे, अब नहीं मिलेगा।' तब तो उसको क्रोध आता है, रोता है, चिल्लाता है, क्रोध प्रकट करता है। और यदि उसने कहा—'एक चाँकलेट दे दो', और तुमने उसको दो दे दी। तब तक छोटी बहन आ गई, कहने लगी—"मुझे भी दो"। अब तुम उस बच्चे से कहा—'बेटा, एक इसको दे दो।' कहेगा—"मैं नहीं दूँगा।" 'तू ने तो एक ही माँगा था, दो दे दिये, चलो कोई बात नहीं, एक इसको दे दो।' अब उसको लोभ आ गया है। वह कहता है—'दूसरी कल मैं सबेरे खाऊँगा, इसको नहीं दूँगा।'

जैसे काम, क्रोध लोभ आते रहते हैं वैसे ही मनुष्य हमेशा 'यह मेरा और यह परसया' हर जगह, हर क्षण यह भेद करता है। मेरा पराया, मेरे पक्ष का, विगेधी पक्ष का, यह मेरी दुकान से माल खरीदने वाला, वह पड़ोसी की दुकान से माल खरीदने वाला। हर जगह हमारी दृष्टि 'यह मेरा और यह तेरा'। शास्त्रकार कहते हैं—यही मोह है, यही तुच्छ बुद्धि है। 'अयं निजः परो वेति गणना लघुचेतसाम्।' जो तुच्छ बुद्धि वाले हैं वही सोचते हैं—यह मेरा है, पराया है। मनुष्य स्वयम् अपनी एक कीमत रखता है। किसी पक्ष का हो जाने से वह बुरा नहीं हो जाता। इस लिए 'उदारचरितनान्तु वसुधैव कुटुम्बकम्' जो लघु चित्त नहीं होते, तुच्छ बुद्धि वाले नहीं होते, उनको संसार के सभी प्राणी अपने ही कुटुम्ब के लगते हैं। अपने बेटों में कोई ज्यादा क्रोधी होता है, किसी की खाने पीने की आदतें खराब होती हैं, कोई रात

में देरी से बाहर से आता है। सब बच्चे एक जैसे तो नहीं होते, परन्तु सब अपने कुटुम्ब के हैं। इसी प्रकार संसार में सब व्यक्ति एक जैसे नहीं हो सकते, प्रत्येक व्यक्ति का स्वभाव अलग है, तरीका अलग है, ढंग अलग है। परन्तु है तो वह एक पूर्ण व्यक्ति। इस लिए वह जैसा है वैसा उसके साथ व्यवहार करना है। वह किधर का है, यह समझकर गलत व्यवहार नहीं करना है। प्राचीन काल में हमारे यहाँ चार विभाजनों से काम चलता था। किसी से मिलते थे तो पूछते थे, कौन हो ? ब्राह्मण हैं। एक वर्ग हो गया। क्षत्रिय हैं—एक वर्ग हो गया। चार वर्ग से काम चल जाता था। वर्तमान काल में हमने उस विभाजन को मान लिया कि यह तो ठीक नहीं। तो प्रान्तों के विभजन आ बैठे। पहले तो अट्ठारह विभाजन थे—ये गुजराती हैं, ये पंजाबी हैं, ये मद्रासी हैं, ये कन्नडिगा हैं, आजकल छब्बीस-सत्तईस हो गये होंगे। इस तरह एक हुआ देशगत विभाजन। फिर देशगत विभाजन के अन्दर भी ये पुरुष हैं, ये स्त्रियाँ हैं। यहाँ का तो पता नहीं, आबू में अभी म्यूनिसिपेलिटी और पंचायत के चुनाव हुए थे, तो कई जगह से केवल औरतें ही खड़ी हो सकती हैं ! आगे और कितने विभाजन होते चले जा रहे हैं इसका कोई ठिकाना नहीं। बाध्य होकर लोग इस दृष्टि से सोचने लग जाते हैं—यह हमारे पक्ष का है, यह उसके पक्ष का है। तो मोह हम लोगों को कभी भी ठीक व्यवहार करने नहीं देता, मनुष्य को बाँट कर किसी न किसी पक्ष में लगा देता है।

जब मोह होता है और अपना पक्ष प्रबल होता है, तब मद आता है। जो भी पक्ष प्रबल होता है, उसके मन में मद आता है। क्योंकि जब भी किसी कार्य में सफलता होगी, सामर्थ्य आयेगी, तो मद न आये ऐसा नहीं हो सकता और यदि हमारा पक्ष कमजोर हो गया तो मात्सर्य आता है—दूसरे में खराबी देखना। सहज ढंग से मनुष्य सोचने लगता है कि जो दूसरा पक्ष है उसमें क्या-क्या खामियाँ हैं, क्या-क्या कमियाँ हैं। मोह के कारण यदि

सफलता हुई तो मद, असफलता हो गई तो मात्सर्य। जितने व्यक्ति अदालत में जा करके मुकदमा लड़ते हैं उनमें से जो हारता है वह आकर यही कहता है, "आजकल जज लोग बड़े ही भ्रष्टाचारी हो गए हैं, पैसा खाने लग गये हैं, सिफारिश को मानने लग गए हैं।" हम उनसे कहते हैं, "तुमको जब इस बात का पता था कि वे लोग ऐसे हैं, तो उनसे फैसला कराने गये ही क्यों ? फैसला कराने किसी भले आदमी के पास जाया जाता है। यदि पता है भ्रष्टाचारी है, तो उनके पास गए क्यों ?" कुछ दिनों बाद किसी दूसरे मुकदमें में वह जीत जाता है। जब जीत जाता है तो कहता है, "देखो, दूध का दूध और पानी का पानी होकर रहता है!" इस प्रकार यदि कार्य ठीक हो गया तो मद, विरुद्ध हो गया तो मात्सर्य और सर्वत्र अज्ञान तो कारण है ही। ये सात मामा हमेशा इसको परेशान करते रहते हैं।

अगर जीव रूप पुत्र इन मामाओं से दूर हो जाये तब तो इसका काम बने, अन्यथा अनादि काल से अपना हाल क्या हो रहा है ? कभी विचार करो। जैसे कहा था—"सिर पर भार और हाथ में खुरपी !" इसी प्रकार ये काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य, अज्ञान रात दिन हम लोगों से खुरपी चलवा रहे हैं; हमारे सिर पर भार रख रहे हैं। इनके कहने पर हमें सब करना पड़ रहा है। कई बार तो समझ में ही नहीं आता कि इनके कारण करना पड़ रहा है, परन्तु अनेक बार समझ में भी आता है। गुस्से में हमने दूसरे के साथ बुरा व्यवहार किया। क्या करूँ ? मेरा क्रोध का स्वभव ऐसा है कि क्रोध आने पर मैं वश में नहीं रहता। तो पता चल गया न कि क्रोध ने मेरे से खुरपी चलवा ली, मुझसे वह काम करा लिया जो मैं नहीं चाहता था। इनको छोड़ कर यदि जीव दूर हो जाता है, इस तरफ से दृष्टि हटा लेता है, तभी इसे सुख हो सकता है, अन्यथा नहीं। इसलिए भगवान् ने कहा—'असंमूढः' मोह से रहित, अर्थात् इन सातों मामाओं से अलग होकर; शरीर-इन्द्रियादि के कारण जो ये सारे सात दोष आ रहे हैं, इनसे हटना होगा।

'जानाति पुरुषोत्तमम्' पुरुषोत्तम को जानता है। पुरुषोत्तम को जानने के दो तरीके हैं : एक तो–जान लिया; रामा, श्यामा हो गया और वहीं तक परिचय रुक गया। बहुत बार किसी से परिचय तो हो जाता है लेकिन वह किसी भी काम का नहीं। रेल में चलते हैं। रेल में काम तो कुछ होता नहीं। चाहे बड़े से बड़ा अफसर हो, बड़े से बड़ा इण्डस्ट्रियलिस्ट हो, उसे जो भी दूसरा आदमी बैठा है उससे बातें करनी ही हैं। चौबीस घण्टे की यात्रा हो, दिल्ली से कलकत्ते जा रहे हों, तो सब तरह की बातें आपस में हो जाती हैं। 'मुझ से मिलने जरूर आना' दोनों आपस में कहते हैं। डायरी निकाल कर ठिकाने भी लिख लेते हैं। परिचय तो हो गया, लेकिन उसके बाद जाकर सब अपने काम में लग जाते हैं। फिर कभी कोई चिट्ठी भी डालते हैं ? इसी प्रकार हम सत्संग में गये, कोई शास्त्र की बात पढ़ी, उससे हमको परमेश्वर के विषय में पता चला, परिचय हो गया, 'सब प्रकार से रक्षा करने वाला और सुख देने वाला परमेश्वर है' इस बात को जाना, परन्तु जैसे ही सत्संग से हटकर अपनी दुनियाँ के काम में लगे, वैसे ही, "फिर ढाक के तीन पात", ठीक पहले जैसे ही कार्य फिर करने लग गए। सत्संग करते समय लगा जरूर था, अरे ! मैं कहा झंझट में फँसा हुआ हूँ। परमेश्वर कितना अच्छा है, उससे मेरा जीवन कितना सुखी हो सकता है, उसी तरफ जाना चाहिए। ऐसा निश्चय भी करता है, जैसे वहाँ निश्चय करता है 'यह बड़ा अच्छा आदमी है, इससे दोस्ती करेंगे ? परन्तु उसके बाद कार्यान्तर में लग गया, तो फिर वह जाना हुआ नहीं जाने जैसा ही हो जाता है। रेल में परिचय हुआ, नाम-ठिकाना लिख लिया। फिर कभी दस साल बाद अपना कोई काम सरकार में अटक गया। पता चला फाइल किसी जोशी के पास है। अचानक ख्याल आ भी गया कि 'यह वही है जिससे रेल में मुलाकात हुई थी'। लेकिन इतने समय तक कभी कोई संपर्क रहा नहीं तो क्या उस रेल की मुलाकात के बल पर अब वह तुम्हारा काम कर देगा ? यदि रेलयात्रा के बाद मेल-जोल

रखा होता, महीने-दो महीने में या होली-दीवाली भी चिट्ठी का आदान-प्रदान रहा होता तो इस मौके पर वह जरूर ख्याल करेगा। ठीक इसी प्रकार हमने सत्संग आदि में कभी परमात्मा के विषय में सुन लिया, परिचय हो गया, समझ भी लिया। परन्तु फिर ससांर के व्यवहारों में फँस गये, उसे भूल गये। अब कभी कष्ट का समय आता है, तकलीफ का समय आता है। और कोई दूसरा कष्ट न हो तो एक कष्ट तो आना ही है, वह है—मृत्यु, उससे बचने का तो उपाय है ही नहीं। उस समय हम सोचते हैं, 'मैंने भी परमेश्वर को जाना था, मुझे परमेश्वर बचा ले।' तो क्या इतने से काम हो जायेगा?

इसलिए भगवान् ने कहा—खाली 'जानाति' से काम नहीं होगा 'स सर्वविद् भजति मां सर्वभावेन' जानकर मेरा भजन करता है। जो निरन्तर भजन में लगा रहता है, उसके ऊपर ही परमेश्वर हमेशा अपनी कृपा करते हैं। एक बार देवर्षि नारद, घूमते हुए किसी भक्त के यहाँ गये। वह हमेशा महात्माओं का आदर करता था, बड़े प्रेम से रखता था। नारद जी को भी उसने बड़ी अच्छी तरह से रखा। नारद जी भी बड़े प्रसन्न हुए उसके सारे ढंग से। उसको कहने लगे "देख ! मैं तेरे को जरा गुप्त बात बतलाता हूँ, मैं नारद हूँ। किसी कार्य से इधर आया हुआ था। तेरे को कुछ भी बात पूछनी हो, कोई तेरे मन में बात हो, तो मुझे बता देना। मैं भगवान् से बात कर तेरे बारे में कुछ न कुछ कर दूँगा।" भक्त कहने लगा—"आपकी बड़ी कृपा है, मेरे मन में तो कोई खास ऐसी इच्छा नहीं। सत्संग करता हूँ इस लिए मुझे पता है कि सुख-दुःख प्रारब्ध के अधीन हैं। परन्तु मेरी पत्नी को एक पुत्र की इच्छा है, क्योंकि कोई संतति घर में नहीं है। तो आप भगवान् से जरा निवेदन करियेगा, हो जाए तो अच्छा है।" नारद जी ने कहा—"भाई! मैं जाऊँगा तब पता लगाऊँगा।" नारद जी जब भगवान् के पास गये तो उन्होंने बाकी सब जिक्र करते हुए उस भक्त का भी जिक्र किया, 'एक भक्त है। महात्माओं की सेवा तो बहुत करता है पर उसके कोई संतति नहीं है।

उसकी इच्छा भी है। आप बताइये उसे संतति होगी कि नहीं?' भगवान् ने कहा—'विधाता से पूछो।' उन्होंने देख-दाख कर बतलाया कि उसके तो सात जन्म में कोई संतति होनी नहीं है ! भगवान् ने कहा—"देख लो, विधाता कह रहा है सात जन्म में इसके कुछ होना नहीं है।" नारद जी ने कहा—"ठीक है।" फिर कुछ समय में घूमते हुए नारद जी उसके पास पहुँचे। उसने फिर बड़े प्रेम से सेवा की। नारद जी ने उससे कहा—"भाई, तेरे बारे में भगवान् से जिक्र किया था। उन्होंने विधाता को बुला कर पता लगा लिया है। तुम्हारे तो सात जन्म में कोई संतति होनी नहीं है।" उसने कहा—"महाराज ! कोई बात नहीं। प्रारब्ध से जो होता है सो होता है।" नारद जी वहाँ से चले गये।

कुछ समय में वहाँ कोई एक परमहंस महात्मा पहुँचे। वह सब महात्माओं की सेवा करता ही था, उनकी भी सेवा की। उनके भी मन में प्रसन्नता आ गई। उन्होंने कहा—"अरे ! तेरे को कुछ चाहिए तो बता दे।" उसने कहा "महाराज, मेरे भाग्य में ही नहीं है, बताने से क्या फायदा ?" उन्होंने कहा "बता तो सही।" उसने कहा—"मेरे संतति नहीं है। मैंने देवर्षि नारद से जिक्र किया था, तो उन्होंने भगवान् से पूछकर बतलाया है—सात जन्म में नहीं है। और कोई मेरे कमी नहीं है, बाकी सब चीजें हैं। इस लिए इसका जिक्र करना ही बेकार है, यह तो काम होना नहीं है।" परमहंस महात्मा ने कहा—"अच्छा ! नारद ने कहा ? सात जन्म में नहीं है ?" "हाँ महाराज।" तो उन्होंने अपना दण्डा उठाया और उसे सात दण्डे मारे। कहा—"जा, इसी जन्म में सात ले ले।" महात्मा चले गये। अब वहाँ लग्गा लगा, एक के बाद दूसरा। परिवार-नियोजन के पहले की बात है, नहीं तो उसको पकड़ ही लेंगे लोग! सात बच्चे हो गए। धीरे-धीरे बच्चे बड़े हो रहे थे। कुछ सालों बाद उधर के नारद जी को निकलने का मौका फिर मिला। नारद जी फिर उसके यहाँ ठहरे। पहले तो घर में बड़ी शान्ति थी। अब मार चिल्ल-पों,

इधर शोर, उधर शोर। कभी एक बच्चा दूसरे को मारे, कभी दूसरा उसको मारे। नारद जी ने उससे कहा–"ये तुम्हारे रिश्तेदारों के बच्चे होंगे, कोई आए हुए होंगे ?" उसने कहा-"नहीं महाराज"। "फिर ?" "आपकी कृपा से अपने ही हैं।"

अब नारद जी को भयंकर क्रोध आया, 'मेरी तो नाक कट गई, ऐसा धोखा !' नारद जी दौड़कर वैकुण्ठ पहुँचे, इधर-उधर कहीं नहीं गये, सीधे वहाँ पहुँचे। भगवान् तो सर्वज्ञ हैं ही। नारदजी जब वैकुण्ठ पहुँचे तो भगवान् गरुड पर बैठने जा रहे थे। नारद जी ने जाकर पकड़ लिया, "कहाँ जा रहे हो?" भगवान् बोले–"भाई कहीं जाना जरूरी है।" नारदजी बोले–"नहीं-नहीं; आप भाग कर जा रहे हो। मुझे कोई बात करनी है।" भगवान् ने कहा–"बात फिर करूँगा।" नारद ने कहा–"नहीं, आप भाग जाओगे।" वे बोले–"तुम भी साथ में बैठ जाओ। साथ चलेंगे। काम हो जाएगा फिर बात करेंगे।" दोनों गरुड पर बैठकर घोर जंगल में पहुँचे। वहाँ एक कुटिया थी। पन्द्रह दिन से निरन्तर पानी बरस रहा था, चारों तरफ पानी ही पानी था, सब लकड़ियाँ वगैरह गीली ही गीली थीं। भगवान् और नारद दोनों ही ब्राह्मण वेष में उस कुटिया में पहुँचे। जैसे ही जाकर दरवाजा खटखटाया परमहंस महात्मा ने कुटिया खोली, देखते ही दोनों को बड़े आदर के साथ बैठाया, शरीर पोंछने के लिए कपड़े दिये, बदलने के लिए कपड़े दिये। उसने पूछा–"महाराज ! और कुछ आपके लिए लाऊँ ?" भगवान् बोले–"भाई, ठण्ड की जगह है। गर्म दूध मिल जाए तो अच्छा है। गर्म होना चाहिए।" उसने कहा–"हाँ जी, अभी इन्तजाम करता हूँ।" जहाँ रसोई बनाने की जगह थी वहाँ वह गया। थोड़ी देर में भगवान् को और नारद को मांस जलने की गन्ध आने लगी। नारद जी कहने लगे–"अरे! यह बदबू कहाँ से आ रही है।" भगवान् ने कहा–"कहाँ से आ रही है ? यहीं-कहीं आस-पास से आ रही होगी।" बदबू बढ़ती गई तो नारद जी ने कहा–"जरा जाकर

देखूँ।" उनसे सहन नहीं हो रहा था। भगवान् तो उदासीन हैं, कूटस्थ हैं, उनको तो कोई फर्क नहीं पड़ता! जब नारद जी जाकर देखने लगे रसोई घर में, तो देखते हैं कि परमहंस महात्मा ने अपने पैर के ऊपर चीथड़े लपेट लिए हैं, घी से भिगो दिया है और उसे जला कर उसके ऊपर दूध गर्म कर रहे हैं !! देख करके सिहर गए। कहने लगे–"क्या कर रहे हैं ?" उन्होंने कहा–"त्रिलोकी के अधिपति आकर कहें, 'गर्म दूध पिलाओ' और उनको दूध न दे सका तो फिर मेरा जीवन व्यर्थ है। उनके लिए दूध गर्म कर रहा हूँ। आपके लिए भी कर रहा हूँ।" नारद जी ने विचार किया, यह कैसा व्यक्ति है जो अपने शरीर को इतनी सरलता से जला सकता है ! तब तक भगवान् पीछे से आ गए। भगवान् ने नारद से कहा–"यही उस आदमी को सात बच्चे दे आया है। बता इसकी कही हुई बात को कैसे मं काट सकता हूँ ? तू तो पूछने आया था, 'क्या हो सकता है, क्या नहीं हो सकता;' तो जो हो सकता है वह हमने बता दिया था। परन्तु जो नहीं भी हो सकता है वह अब इसने अगर कर दिया तो क्या किया जाए ?" नारद जी समझ गए, उनका गुस्सा शान्त हो गया।

यह है 'सर्वभावेन भजति'। जो इस प्रकार सारे भावों से, सब प्रकार से उसके भजन में लग जाता है, वह सर्ववित् हो जाता है सर्वज्ञ हो जाता है। उसके लिए न कोई ऐसी चीज है जो वह न जान सके, न कोई ऐसी चीज है जो वह न कर सके। यद्यपि उसने भगवान् को पहचान लिया था तथापि जब तक नारद ने टोका नहीं तब तक यह बात प्रकट नहीं की। इस लिए शास्त्रकार कहते हैं–'विश्वेश्वरस्तु सुधिया गलितेऽपि देहे भावेन भक्तिसहितेन समर्चनीयः। प्राणेश्वरश्चतुरया मिलितेऽपि चित्ते चैलाञ्चलव्यवहितेन समीक्षणीयः।।' भगवान् विश्वेश्वर के साथ अपना कोई भेद नहीं रह जाता है, अपनी कोई सत्ता उनसे भिन्न नहीं रह जाती है, सारा भेद खत्म हो गया। परन्तु फिर भी पूरे प्रेम के साथ उनकी अर्चना करता

है, जैसे, शरीर जलाकर भी उनको दूध पिलाने को तैयार है। क्यों? प्राचीन काल का दृष्टान्त है : ब्याह हो गया, पति-पत्नी का पूर्ण प्रेम भी है, दोनों में अब कोई फर्क नहीं रह गया है। पत्नी जो चाहेगी पति करेगा, दोनों का चित्त बिल्कुल मिला हुआ है, अभेद हो गया है, कोई फर्क नहीं रहा है। लेकिन जब दस-बीस आदमियों के बीच रहते हैं तो घूंघट को थोड़ा-सा एक ओर कर छोटे-से छेद में से पति को देखा जाता है। पाश्चात्य देश वालों की तरह आपस में चिपट नहीं जाते हैं। ठीक इस प्रकार सर्वथा भेद मिट जाने पर भी अभेद की भावना सबके सामने प्रकट नहीं होती है। व्यवहार में तो उपाधि की आड़ रहेगी ही। उस आड़ के साथ ही सारा व्यवहार करना पड़ता है। सर्ववित् हो गया; भजन करने से ही सर्ववित् हुआ, परन्तु उसके बाद भी, सर्ववित् होकर भी भजन तो करता ही रहेगा। इस लिए नहीं कि अब उसको कुछ प्राप्त करना है वरन् क्योंकि असीम प्रेम है। ठीक जिस प्रकार से कार्य होना चाहिए उस प्रकार से ही किया जाता है। इस लिए कहा—'सर्वविद् भजति माम्'। इसलिये दोनों तरफ संबंध समझना—जब 'भजति' तब 'सर्ववित्' और जब 'सर्ववित्' हो जाता है तब भी 'भजति' लेकिन अब 'सर्वभावेन'। इस प्रकार जब परमेश्वर से एकता हो गई तो कार्य पूरा हो गया, कृतकृत्य हो गये।

प्रवचन—२०

भगवान् गीता के पन्द्रहवें अध्याय को समाप्त करते हुए इसका महत्त्व बताते हैं—

इति गुह्यतमं शास्त्रम्
इदमुक्तं मयाऽनघ!
एतद् बुद्ध्वा बुद्धिमान् स्यात्
कृतकृत्यश्च भारत!।।२०।।

अर्जुन के लिये भगवान् ने दो सम्बोधन दिये 'अनघ ! भारत !' अघ अर्थात् पाप, जिसका जीवन पाप-रहित होता है उसी को अनघ कहते हैं। दूसरा सम्बोधन दिया 'भारत'। भारत कुल में उत्पन्न होने के कारण उसे भारत कह रहे हैं। भारत कुल की क्या विशेषता है? जो सबका भरण करे उसी को भरत कहते हैं। प्रायः मनुष्य सोचता है 'मैं अपना घर कैसे भरूँ?' इसको छोड़कर जो हमेशा विचार करे मैं दूसरे का घर कैसे भरूँ ? व्यवहार के अन्दर एक सोचता है यह कार्य कर इस व्यवहार के द्वारा मुझे क्या मिलेगा—सम्मान मिलेगा, यश मिलेगा, धन मिलेगा, सेवा मिलेगी ? एक सोचने का तरीका है, मुझे क्या मिलेगा ? व्यवहार का दूसरा तरीका है—मैं दूसरे को क्या दूँगा ? मैं अपने व्यवहार के द्वारा उसको सम्मान दूँगा। मैं उसको क्या दूँगा ? यह व्यवहार में दूसरा तरीका है। जो व्यवहार में सोचता है मुझे क्या मिलेगा वह हमेशा दुःखी रहेगा। क्योंकि जब तुम किसी दूसरे से मिलने की आशा करते हो तो तुम अपने आप को दूसरे के अधीन कर देते हो। वह देगा तो तुम खुश और वह नहीं देगा तो तुम दुःखी। जब तुम देने की सोचते हो, दूसरों को भरने की सोचते हो, तब तुमको कभी दुःख नहीं होगा, क्योंकि जो भी तुम दोगे उसे सामने वाला तो ग्रहण करेगा ही। दूसरों से जब तुम आशा करते हो तब तुम्हें दुःख रहना स्वाभाविक है। तुमने सौ की आशा की ओर तुमको नब्बे भी मिले तो दस की कमी खटकती रहेगी। इस प्रकार इस प्रक्रिया में तुम पराधीन रहोगे और जो मिलेगा, वह पूरी प्रसन्नता नहीं दे पायेगा, क्योंकि आशा पूरी नहीं होगी। प्रायः यह समस्या सरकारी नौकरी में भी आती है। तरक्की तो हमें मिली, हजार रुपया पहले से ज्यादा मिलने लगा, परन्तु जिस पद को हम चाहते थे, या जिस जगह जाना चाहते थे वहाँ नहीं पहुँच पाये, तो आदमी दुःखी रहता है। हजार रुपया तो बढ़ा, लेकिन जिस जगह उसको जाना पड़ रहा है उस शहर में जाना नहीं चाहता। और यदि उसी शहर में रह गया लेकिन तनख्वाह नहीं बढ़ी,

तो इस बात का दुःख है कि क्यों नहीं बढ़ी ! अतः हमेशा अपूर्णता का बोध होता है। जब मुझे केवल सोचना है कि 'मैं' क्या दूँ' तो मैं जो भी दूँगा वह सामने वाला तो स्वीकार करेगा ही। यह भारत कुल की विशेषता है। इस लिए कहा—"भारत"। प्राचीन काल में इस आदर्श को सारे वर्ष ने अर्थात् देश ने अपनाया इस लिए इसको 'भारत वर्ष' कहने लगे। प्रत्येक व्यक्ति यहाँ प्रत्येक व्यवहार में यही सामने रखता था, 'मैं क्या दे सकता हूँ ?' इन दोनों सम्बोधनों से भगवान् ने कहा कि मैंने जो पुरुषोत्तम योग बतलाया है उसकी प्राप्ति के लिए अपने जीवन को पाप-रहित करो ओर अपने जीवन को हमेशा दूसरों को भरने वाला बनाओ।

भगवान् इस उपदेश को 'इति गुह्यतमम्' कहते हैं। मैंने जो बात कही है यह गुह्यतम है। गुह्य कहते हैं जो छिपाने लायक चीज हो, गोपनीय हो। बड़ी-बड़ी सिद्धियाँ होती हैं, आदमी अपने को अत्यन्त छोटा कर लेता है, अणिमा सिद्धि से, अत्यन्त भारी कर लेता है गरिमा सिद्धि से, चाहे जिसको अपने वश में कर लेता है वशित्व सिद्धि से; इन सिद्धियों को देने वाले जो मणि मन्त्र औषधादि हैं उन सबको लोग गुह्य मानते हैं, गोपनीय मानते हैं, चाहे जिसको बतलाते नहीं। उसकी अपेक्षा गुह्यतर—और ज्यादा छिपाने लायक चीज है परमेश्वर की प्राप्ति का मार्ग। परमेश्वर की प्राप्ति का मार्ग चाहे जिसके सामने प्रकट करने से उसका सदुपयोग नहीं हो सकता क्योंकि जो व्यक्ति परमेश्वर को चाहता नहीं, उसके सामने उसे प्रकट करना भी बेकार है। और साक्षात् परमात्मा का प्रतिपादन करना गुह्यतम है। इस पन्द्रहवें अध्याय में पुरुषोत्तम योग में भगवान् ने परमात्मा के तत्त्व का ही मुख्य रूप से प्रतिपादन किया है, इसलिए इस अध्याय का नाम भी 'पुरुषोत्तम योग' है। चूँकि इसके अन्दर परमात्मा की वास्तविकता को बताया गया कि प्रत्येक प्राणी के हृदय में वह परमेश्वर विद्यमान है, अतः इसको भगवान् ने गुह्यतम कहा है।

गुह्यतम शास्त्र है। शास्त्र वह होता है जो चार चीजों को स्पष्ट रूप से बताये। जैसे चिकित्साशास्त्र—क्या रोग है, क्या रोग का कारण है, क्या आरोग्य है और क्या उस आरोग्य की प्राप्ति का साधन है, भैषज्य है, दवाई है। इन चार चीजों को बताये तब चिकित्साशास्त्र हुआ। अगर केलव दवाईयाँ बता दीं तो भी चिकित्साशास्त्र नहीं है। अगर केवल रोग बता दिया, तब भी चिकित्साशास्त्र नहीं है। रोग तो लिंग है, चिह्न है। मेरा सिर दर्द करता है, मेरे पेट में तकलीफ है, ये तो सब चिह्न हैं। परन्तु किसके चिह्न हैं, हुआ क्या जिसके कारण यह सब हो रहा है, यह शास्त्र से पता चलेगा। पित्त में प्रकोप हो गया है, कफ का प्रकोप हो गया है, कहीं से कीटाणुओं का संक्रमण हो गया है, इन्फेक्शन हो गया है, यह हुआ हेतु, कारण। आरोग्य, जिसे स्वस्थता कहते हैं। कोई दो मनुष्य या दो पशु भी एक जैसे नहीं होते, एक के लिए जो जबरदस्त ठण्ड होती है, दूसरे के लिए वह सामान्य मौसम होता है। इस प्रकार सर्वत्र ही व्यक्तियों में भेद होता है। जिसको रोज भारी भोजन हजम हो जाता है वह जिसे हजम नहीं होता, उसे कहता रहता है, 'अरे! तेरा पेट कमजोर है, तेरा पेट कमजोर है।' जिसे हजम नहीं होता वह उस भारी भोजन करने वाले को कहता रहता है, 'तू बड़ा खाऊ है, तू बड़ा खाऊ है।' वास्तविक स्थिति क्या है ? उसकी स्वस्थता उस प्रकार के भोजन से है, दूसरे की स्वस्थता अन्य प्रकार के भोजन से है। एक आदमी बीस मील चल लेता है, कोई थकावट महसूस नहीं करता; दूसरा दो मील चल लेता है, उसके बाद उसे दो घण्टे आराम चाहिए। इस प्रकार आरोग्य का मतलब जो तुम्हारा स्वाभाविक स्वरूप है। जिस समय तुम रोगरहित हो, उस समय जो तुम्हारी सामान्य स्थिति है, वही तुम्हारा आरोग्य है, तुम्हारी स्वस्थता है। जब तुम रोग से आक्रान्त हो तब उस स्थिति से हटे हुए हो, अस्वस्थ हो। जब रोग का कारण हट जायेगा तब थोड़े समय के बाद तुम अपनी स्वस्थता में पहुँचोगे। कारण के हटते ही तो स्वस्थ हो नहीं जाओगे।

जो भी शरीर में विकार आया है, कमजोरी आई है, उसके निकलने में थोड़ा समय लगेगा। सारे उपायों से तुमको स्वस्थता तक पहुँचाना—यह भैषज्य है।

इसी प्रकार हमारा रोग क्या है यह शास्त्र बतलाता है। अनुभव तो हमें होता है। शोक और मोह, ये हमारे रोग हैं। आचार्य शंकर लिखते हैं कि जब कहा जाता है कि जींव का संसरण है तब मुख्य अभिप्राय है कि उसे शोक व मोह हैं। जहाँ हमारे मन का काम हुआ, मोह हो जाता है और जहाँ हमारे मन के विरुद्ध हुआ, वहाँ शोक हो जाता है। जैसे ही हमारे मन के अनुकूल काम होता है, हमें मोह होता है, जिसे 'इलेशन' कह सकते हैं अंग्रेजी में। 'मैं धन्य हूँ। मेरा सब काम ठीक हो गया। क्या बढ़िया काम हुआ !' यह मोह की स्थिति है। लोग आकर जितना कहते हैं, 'बहुत बढ़िया काम हुआ' उतना ही मोह बढ़ता जाता हैं, अपने अन्दर धन्यता की बुद्धि होती जाती है। विपरीत हुआ तो शोक हो जाता है, 'डिप्रेशन' हो जाता है—'हाय! ऐसा क्यों हुआ, हाय क्यों हो गया, नहीं होना चाहिए था'। हमारे प्रधान रोग—शोक और मोह हैं। इनके अन्तर्गत सारी बातें आ गई। ये तो हो गए चिह्न; इनका विस्तार बाकी काम, क्रोध, लोभ, इत्यादि सातों भाव हैं या और ज्यादा विस्तार भी हो सकता है पर आधारभूत ढंग से दो ही अस्वाभाविक स्थितियाँ हैं—शोक और मोह। अगर कोई चीज हमारे में धन्यता की बुद्धि न लाये ओर कोई चीज हमारे में अधन्यता की बुद्धि न लाये तो हमें कोई रोग नहीं है!

इस रोग का कारण क्या है ? एक ही है—परमात्मा से मैं अपने को अलग समझता हूँ, बस यह जो अलगाव है, यही कारण है। परमात्मा से अलग मैं कुछ हूँ तो नहीं। हम लोगों का हाल ऐसा है : जितनी भी जमीन है उसकी वास्तविक मिल्कियत तो सरकार की है। काम चलाने के लिए तुमको यह जमीन मिल गई है। कहीं, दिल्ली जैसी जगह में, लीज पर मिल

गई; कहीं छोटी जगह में फ्री होल्ड मिल गया; लेकिन तुमको सिर्फ मिली हुई है, इसलिये सरकार जब चाहे तब तुम्हारी जमीन को ले सकती है, अधिग्रहण कर सकती है, एक्वायर कर सकती है। तुम किसी दूसरे की जमीन को एक्वायर नहीं कर सकते। परन्तु तुम्हारी जमीन किसी भी समय सरकार ले सकती है। इसलिये मिल्कियत तो है सरकार की, काम चलाऊ मिल्कियत तुमको मिल गई। जैसे ही सरकार उस जमीन के बारे में कोई बात तुमसे कहती है तो तुम्हें लगता है, हमारे अधिकार पर चोट आ रही है ! हमारे पास हजार गज जमीन है। अब सरकार ने नियम बना दिया कि हजार गज जमीन के अन्दर केवल तीन सौ गज पर तुम मकान बना सकते हो। तुमको लगता है 'यह तो बड़ा अन्याय है जी, हजार गज जमीन हमारी है, हम क्यों छोड़ें?' फिर उन्होंने नियम बना दिया कि दो तल्ले से ज्याद नहीं बना सकते। हमें यह भी सरकार का गलत हस्तक्षेप लगता है। मूल अविद्या बैठी हुई है कि 'जमीन हमारी है'। अगर एक बार समझ आ जाए कि सारी जमीन की मालिक सरकार है, जितना अधिकार उसने हमको चलाने के लिए दे दिया उतना ही हमको मिला हुआ है, बाकी मिल्कियत तो उसकी, तो हर हुक्म सुनकर तुमको कोई घबराहट नहीं होगी। गृहकर बढ़ गया, हाऊस टेक्स बढ़ गया। तुम शिकायत करते हो 'देखो जी, फिर इन्होंने बढ़ा दिया।' लेकिन झगड़े की क्या बात है। तुमको गृहकर नहीं देना है तो घर बेचो ओर हट जाओ, कोई गृहकर नहीं देना पड़ेगा ! रखोगे तो उनकी चीज है, जो कहेंगे सो करना पड़ेगा। जमीन सारी सरकार की है, तुमको काम चलाने के लिए मिली है, इस बात का अज्ञान होते ही तुम्हारे जमीन सम्बन्धी शोक, मोह शुरू हो जाते हैं। इसी तरह संसार का कण-कण और क्षण-क्षण केवल परमेश्वर का है, तुम्हारा कहीं कोई हक नहीं बनता है। यह भूले कि कष्ट शुरू।

एक कायस्थ था। कायस्थ लोग हिसाब बहुत रखते हैं। उसने बारह

साल तक तपस्या की। बारह साल बाद भगवान् प्रकट हो गए। भगवान् ने कहा, 'तूझे जो वर माँगना हो, मांग ले।' कायस्थ तो हिसाब करने वाला हुआ। उसने कहा, ''जी मैं किसी का दिया हुआ तो लूँगा नहीं, बारह साल की तपस्या का जितना फल हुआ हो वह दे दो।'' भगवान् को भी पहली बार कोई ऐसा मिला जो हिसाब करने लगा हो ! भगवान् ने कहा, 'अच्छा। हिसाब करना है तो हिसाब कर लो, वर लेना हो तो वर ले लो। तुमने जिस पत्थर पर एक पैर पर खड़े होकर तपस्या की यह पत्थर किसका है ? इसका भाड़ा भी जोड़ लिया जाय। इस नदी का तुम पानी लेकर पीते रहे, नहाते रहे, वह पानी किसका था ? उसका भी हिसाब कर लो। सांस लेते रहे, उसका भी हिसाब कर लो। सारा हिसाब करने के बाद तपस्या का क्या फल मिलना है ? कुछ नहीं। घाटे में ही रहोगे।' कायस्थ समझ गया भगवान् के साथ हिसाब नहीं हो सकता।

हम लोग रात दिन भगवान् से हिसाब करते रहते हैं, 'मैंने यह अच्छा काम किया। भगवान् ने मेरे साथ क्या किया।' यह नहीं सोचते कि शरीर किसने दिया, मन किसने दिया, इन्द्रियाँ किसने दीं ? ये सब कुछ हमारे हक की चीजें तो हैं नहीं। इन्हीं का प्रयोग कर यदि हमने अच्छा काम किया तो भगवान् की चीज का प्रयोग किया है, उसमें हम अपना हक कैसे बतावें? परन्तु इस बात को भूल जाते हैं। जैसे भूल जाते हैं कि यह जमीन हमारी नहीं सरकार की है वैसे ही भूल जाते हैं कि शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि हमारा कुछ भी नहीं है, सब भगवान् की सम्पत्ति है। उन्होंने काम करने के लिए हमको अधिकार दे दिया 'इससे तुम यह करो, उपयोग करो', इससे ज्यादा हमारा कोई हक नहीं। एक बार जब यह समझ लिया जाता है 'ब्रह्मैवेदं सर्वम्' सब कुछ परमात्मस्वरूप है, उससे भिन्न कहीं कुछ नहीं है, तब शिकायत का मौका नहीं रहता। इसलिये अविद्या इस रोग का हेतु हुआ। 'मैं परमेश्वर से भिन्न हूँ' बस यह अज्ञान ही शोक, मोह का कारण है।

इस लिए हमारा आरोग्य, हमारा स्वस्थ स्वरूप क्या है ? मैं न कर्ता हूँ, न भोक्ता हूँ, मैं तो केवल चिन्मात्र हूँ, साक्षिमात्र हूँ : करने वाला, भोगने वाला मैं नहीं। परमेश्वर ने हमें काम चलाने के लिए जो दिया है वह हमारा स्वरूप नहीं है। हमारा स्वरूप तो अकर्ता, अभोक्ता, साक्षी, चिन्मात्र है। यह हमारी आरोग्य अवस्था है, हमारा अपना स्वरूप है।

जितने साधन हैं वे इसके लिए हैं कि हम इस आरोग्य को प्राप्त करें। रोग का कारण दूर होने के बाद भी कमजोरी दूर करने के लिए कुछ समय चाहिए। कुछ रसायन इत्यादि का प्रयोग करके तब शरीर वापस पहले जैसा स्वस्थ होता है। वैसे ही आत्मा के स्वरूप को समझ कर उसके अन्दर सर्वथा स्थित होने के लिए मनुष्य को कुछ समय लगता है। जिन रसायनों के प्रयोग से पूर्णता प्राप्त होती है उसको बतलाना भी शास्त्र का कार्य है।

चारों बातें बतलाने वाली होने से गीता को भी शास्त्र कहते हैं। यहाँ भगवान् ने इस अध्याय को ही शास्त्र कह दिया। सबसे पहले भगवान् ने प्रथम श्लोक के अन्दर ही प्रतिपादित कर दिया कि इस सारे संसार का मूल अज्ञान है और उसका ऊर्ध्व स्वरूप मैं स्वयम् हूँ। इस बात को समझने से पता चलता है कि जिस प्रकार आम के पेड़ में सर्वत्र आम का रस रहता है वैसे ही परमात्मा से उत्पन्न इस संसार के अन्दर केवल परमात्मा ही रस है। यहाँ एक तिनका भी ऐसा नहीं है, जिसके अन्दर परमात्मा का रस भरा हुआ न होवे। यह भगवान् ने सर्वप्रथम प्रतिपादित किया। जीव इस स्वरूप में स्थित नहीं रह सकता, क्योंकि उसको दिखाई देता है—यह लूला है, यह लंगड़ा है, यह पापी है। इन सबमें हम परमात्मा का रस कैसे देखें? इस लिए वह सर्वत्र ब्रह्म नहीं जान पाता। उत्तम अधिकारी के लिये तो पहला श्लोक पर्याप्त है क्योंकि उतने से वह समझ लेगा कि परमात्मा से अतिरिक्त कुछ नहीं है। जो पहले श्लोक के द्वारा उत्तमाधिकारी को बतला दिया। लेकिन जो इस प्रकार सर्वत्र परमात्मा-दृष्टि न कर सके, उसे दूसरे-तीसरे

श्लोक द्वारा बतलाया कि इस सबको माया का कार्य समझ कर असंग शास्त्र के द्वारा, अनासक्ति के द्वारा काट दो। काट कर क्या करें? तब कहा—एकमात्र उन परमेश्वर की शरण जाओ जिन्होंने इस सृष्टि को चलाया है। इस शरणागति के साधन बताये मान का त्याग, संग का त्याग, अध्यात्मनित्य होना इत्यादि। सारे साधनों का प्रतिपादन किया जो शरणागति की इतिकर्तव्यता हैं, उसे करने के ढंग हैं। उसके बाद प्रतिपादन किया कि परमात्मा को सर्वत्र किस रूप से देखें—परमात्मा पृथ्वी में कैसे है, वेदान्त का उपदेश करने वालों में कैसे है। इस प्रकार परमेश्वर ने अपनी जड और चेतन विभूतियों का वर्णन किया। फिर सारी विभूतियों को संक्षेप में क्षर और अक्षर, व्यक्त और अव्यक्त के द्वारा कहा। इन दोनों उपाधियों से जो सर्वथा भिन्न और अस्पृष्ट है उस उत्तम पुरुष को, पुरुषोत्तम को बतलाया। इस पुरुषोत्तम का सर्वभावेन भजन करना बताया। इस तरह शास्त्र के चारों अंग भगवान् ने बतला दिये।

यदि इतना ही शास्त्र है तो फिर इतने लम्बे-चौड़े शास्त्र बने क्यों ? भगवान् को ही चाहिए था कि अर्जुन को केवल पन्द्रहवाँ अध्याय ही सुना देते। एक जगह विल्वमंगल लिखते हैं—जिस समय किसी दैत्य द्वारा पृथ्वी खींचकर समुद्र में ले जाई गई तब पृथ्वी का उद्धार करने के लिए भगवान् ने वराह मूर्ति धारण की, शूकर-रूप धारण किया। समुद्र में से पृथ्वी को निकालें कैसे ? इसके लिये कितनी बड़ी मूर्ति चाहिये? 'यद्रोमरन्ध्रपरिपूर्णविधावदक्षा वाराहजन्मनि बभूवुरमी समुद्राः' समुद्र हम लोगों को पृथ्वी की अपेक्षा अत्यधिक बड़े दीख रहे हैं। लेकिन जब भगवान् ने वराह अवतार लिया तो उनके शरीर के रोमों के अन्दर जो जगह थी उसे भी भरने में वे सारे समुद्र समर्थ नहीं हुए ! कल्पना करो भगवान् के उस रूप की, वराह मूर्ति की। जब समुद्र उनके शरीर के एक रोम को भी नहीं भर पा रहा था, तो उन्होंने पृथ्वी को बाहर निकाल लिया इसमें क्या आश्चर्य। यह भी

भगवान् की ही मूर्ति थी। बाद में भगवान् ने कृष्णावतार लिया। अब जिसके रोम कूपको सारे समुद्र नहीं भर पा रहे थे उसी का क्या हाल है–'तन्नाम नाथमरविन्ददृषं यशोदा पाणिद्वयान्तरजलैः स्नपयांबभूव!' यशोदा उनको स्नान करा रही हैं। भगवान् अभी बच्चे हैं। आजकल तो नलके का जमाना आ गया है ! पहले माता पानी को जरा गर्म करती थी जब छोटे बच्चे को नहलाना हो। फिर अंजलि भर कर बच्चे पर पानी डालती थी। लोटे से तो बहुत ज़्यादा पानी गिरेगा। यशोदा की अंजली में जो पानी है उससे भगवान् का सारा शरीर नहा लेता है, स्नान कर लेता है। विचार करो, संसार के सारे समुद्र जिसके रोम कूप को नहीं भर पाते उसके सारे शरीर को हाथ की अंजलि के पानी से धो दिया जा सकता है, स्नान कराया जा सकता है।

ठीक इसी प्रकार चार वेद, छह वेदांग, चार उपवेद, पुराण, न्याय, मीमांसा, धर्मशास्त्र इतने सारे विस्तृत शास्त्र जिस परमात्मा का प्रतिपादन करते हुए भी कहते हैं, 'हम प्रतिपादन नहीं कर पा रहे हैं' वह भी परमेश्वर का ही शरीर है। ये सब मिलकर भी उनके रोम रन्ध्र को बतला नहीं पाते हैं, उनके एक हिस्से को भी नहीं बता पाते। उन्हीं को पूरे रूप से प्रतिपादित बीस श्लोकों में भी कर दिया गया! आगे चलकर आचार्य शंकर तो एक जगह कहते हैं–मैं सोलह अक्षरों में, सोलह शब्दों में नहीं, सोलह अक्षरों में ही सारी बात बता देता हूँ। यह भगवान् के स्वरूप की ही विलक्षणता है। इस लिए जो यहाँ इस अध्याय को शास्त्र कहा वह बिल्कुल यथावत् है। इसमें कहीं कोई कमी नहीं है क्योंकि शास्त्र होने के लिये ज़रूरी सभी बातों का यहाँ प्रतिपादन है। अतः भगवान् स्पष्ट करते हैं कि यहाँ जो कहा वह तात्पर्यतः कहा है 'उक्तं मया'। भगवान् बोल ही रहे थे, यह कहने की क्या ज़रूरत कि 'मैंने बताया है'? लोक में भी जब किसी बात में अपना तात्पर्य व्यक्त करना हो तो बोलते हैं 'मैं कहता हूँ'। अतः इसे शास्त्र बताना

भगवान् को इष्ट है।

'एतद् बुद्ध्वा बुद्धिमान् स्यात्।' पुरुषोत्तम योग को जान कर क्या करो? 'बुद्धिमान् स्यात्' इस बुद्धि को पकड़ कर रखो। बुद्धि अर्थात् ज्ञान। ज्ञान तो मैंने तुमको दे दिया लेकिन बुद्धिमान् तब होगे जब उसको पकड़ कर रखोगे। ठीक जिस प्रकार हमने तुम्हें धन दिया, उस धन को तुम बचाकर रखेगो तब तो धनी होगे लेकिन तुमने धन लिया और उसे फूँक दिया तो तुम धनी नहीं हो सकोगे। धन मिलने से धनी नहीं होता। धन को जब रक्षित करके रखो तभी धनी कहे जाओगे। इसी प्रकार यहाँ भगवान् कहते है—'बुद्ध्वा बुद्धिमान् स्यात्'।

प्रभाकर नाम का एक ब्राह्मण था। काशी में एक पंडितराज थे, उनकी पुत्री कल्याणी से उनका ब्याह हो गया। कल्याणी बहुत सुन्दर थी। चतुर्थी कर्म के बाद वह प्रभाकर के पास गई। प्रभाकर उससे संगम करने का इच्छुक था। स्वाभाविक रूप से कल्याणी ने मना कर दिया। उसने कहा—'किसी भी कर्म को यदि भोग की दृष्टि से किया जाता है तो वह कर्म पवित्रता खो देता है।' इस लिए हमारे यहाँ शास्त्रकारों ने कहा—'विवाहो न विलासार्थम्' विवाह मौज-शौक करने के लिए नहीं है। उसने कहा यह गृहस्थ आश्रम है, कोई भोग भोगने के लिए तुमको लाइसेंस नहीं मिल गया है। योग्य पुत्र उत्पन्न करने का तुम्हारे ऊपर कर्तव्य आया है उसके लिये विधिवत् प्रवृत्ति करो। इस लिए हमारे यहाँ विवाह के बाद हनीमून नहीं होता है। यह विदेशों की विचारधारा है। वे कहते हैं—ब्याह हो गया, तो अब मौज-शौक करने चलो। हम लोग कहते हैं कि ब्याह के पहले तक तो तुम स्वतन्त्र थे, अब तो तुम्हें गृहस्थी की गाड़ी चलानी है। विचार की दृष्टि बिल्कुल अलग है। कल्याणी ने यह बात समझाने की चेष्टा की लेकिन वह नहीं माना, नहीं समझा, बल-प्रयोग करने लगा, जैसे भोगियों की आदत होती है। उसने कहा, ''देखो ! प्रेमपूर्वक जो समागम होता है, वही धार्मिक

पुत्र को उत्पन्न करेगा।'' इस लिए हमारे यहाँ कामज पुत्र और धर्मज पुत्र दोनों अलग माने गये हैं। कामनापूर्वक जब तुम पुत्र को उत्पन्न करते हो तो उस पुत्र के अन्दर भी कामना का ही प्रवेश रहता है। हमारे जिम्मे सृष्टि-चक्र चलाने का काम है। इस लिए वेद ने आज्ञा दी है 'प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः'। काम से हम पुत्र उत्पन्न नहीं करते। वेद कहता है कि गुरु को तुमने दक्षिणा दे दी अब तुम समावर्तन करके आ गये, अब तुम्हारी प्रजा का तन्तु न टूटे इसके लिए पुत्र उत्पन्न करना है। इसको वंश-परम्परा कह सकते हो। कल्याणी ने समझाया इस कर्तव्य बुद्धि से पुत्र को उत्पन्न करना चाहिये अन्यथा हम लोगों के अन्दर अधर्म का प्रवेश हो जायेगा। प्रभाकर नहीं माना। कामनापूर्वक प्रवृत्ति हो गई तो अधर्म का प्रवेश होना ही था।

थोड़े समय बाद प्रभाकर को कहीं बाहर कमाने के लिए जाना पड़ा। जब एक बार कामना का प्रवेश हो गया तो फिर कामना रहनी है। उसको जब अधिक समय लगा, तो कल्याणी भी धर्म पर टिक नहीं पायी थी। आदमी दस-दस साल जाकर व्यापार कर लेता था, पति-पत्नी दोनों धर्म निभा लेते थे। राजस्थान में हमको पता है, दस-दस साल के बाद रंगून से व्यापार करके वापस आते थे परन्तु कभी कोई समस्या नहीं होती थी। आजकल किसी को छह महीने जाना पड़े तो घरवाले कहते हैं—'अरे! घरवाली को साथ ले जाओ, जमाना खराब है।' कहाँ दस-बारह साल भी मन में कभी ऐसी बात नहीं आती थी। और अब, पति को मरे पन्द्रह दिन भी नहीं बीते तभी से लोग बातें करने लगते हैं कि लड़की अभी बच्ची है, छोटी है, इसका तो कुछ कर देना चाहिये, कैसे समय बितायेगी ! कारण क्या है? अधर्म का प्रवेश है। यही हाल कल्याणी का हो गया। प्रभाकर वापस आया तो उस परिस्थिति को देख कर बड़ा दुःखी हुआ। पत्नी को डाँटा, पत्नी ने कहा 'मैं अपराधिन नहीं हूँ। अधर्म का प्रवेश आपने कराया। मैंने

पहले ही सावधान किया था !' उसे भी अब होश आया। उसने कहा–"फिर इसका प्रायश्चित्त क्या?" उन्होंने निर्णय किया 'दृष्ट्वा विश्वेश्वरं देवं दक्षिणामूर्तिमास्थितम्। तत्प्रसादात् सपत्नीकः शिवसायुज्यमाप्स्यति।।' भगवान् विश्वेश्वर का जो दक्षिणामूर्ति रूप है उसका दर्शन करें वे ही इस पाप को हमारे अन्दर से दूर करेंगे। भगवान् विश्वनाथ के दर्शन से ही हम दोनों शिवसायुज्य को प्राप्त करेंगे। हम अशुभ हो गये हैं, फिर शुभ रूप को प्राप्त करेंगे। उन्होंने भगवान् विश्वनाथ के दक्षिणामूर्ति रूप का दर्शन कर अपने स्वरूप को पुनः प्राप्त किया, अधर्म उसको छोड़ गया।

यह केवल एक प्रभाकर की कथा नहीं समझ लेना! प्रभा अर्थात् प्रकाश। ज्ञान रूप प्रभा जिसके अन्दर हमेशा रहती है, वह जीव ही प्रभाकर है। उसकी जो बुद्धि है, वही कल्याणी है। बुद्धि स्वरूप से तो कल्याणी है क्योंकि महाभूतों के सत्त्व गुण से बनी हुई है। बुद्धि में स्वतः दोष नहीं है वह तो कल्याणी है, परन्तु जीव इस बुद्धि को भोग का साधन बना लेता है। जिस बुद्धि का प्रयोग होना चाहिए धर्म के लिए उसका प्रयोग काम और अर्थ के लिए करता है। जितने बड़े-बड़े आविष्कार होते हैं, सब अविष्कार तुमको क्या देते हैं? या भोग की प्राप्ति कराते हैं या कोई न कोई कमाने का साधन देते हैं। लोग कहते हैं बड़ी तरक्की हो रही है। तरक्की हो किसी चीज की रही है ? अर्थ और काम की तरक्की हो रही है। अर्थ काम तुम्हारा स्वरूप नहीं। इसीलिए तुम्हारे शोक मोह बढ़ रहे हैं। पहले आदमी को दो समय भोजन मिल जाता था, ठण्ड के लिए कपड़ा मिल जाता था, आराम से रहता था। अब उसको क्या-क्या चाहिए। तुम्हारे इस छोटे से गाँव में भी टेलीविजन लगे हुए हैं। सबको सब चीज उपलब्ध होगी नहीं तो सिवाय शोक-मोह के कुछ होना नहीं है। जिस प्रकार प्रभाकर कल्याणी के साथ अधर्म के लिए प्रवृत्त हुआ, वैसे ही हम लोग भी अपनी बुद्धि का प्रयोग धर्म प्राप्ति के लिए न करके अर्थ और काम के लिए करते हैं। इसी से बुद्धि के अन्दर आसक्ति

हो गई पदार्थों में। जब आसक्ति हो गई तो बुद्धि बड़ी दुःखी होती है। अभी कोई हमको बता रहा था कि दिल्ली के अन्दर साठ प्रतिशत दवाईयाँ तो खाली दिमाग को हल्का करने के लिए बिक रही हैं। क्यों इसकी ज़रूरत है ? दवाई नहीं लेते हैं तो, हर मोड़ पर एक शराब की दुकान दिल्ली में खुली हुई है। शराब पीते हैं क्यों ? मन भारी होता है, उसे हल्का करने के लिए। इसी को कहते हैं—शोक और मोह। तुम चाहो भी कि ऐसा न होवे लेकिन अब बुद्धि की तो आदत पड़ गयी है। बुद्धि कहती है 'अब मुझे इन सब चीजों की आदत पड़ गई है। मैं तो अब आसक्ति में फँसी हुई हूँ।

अन्त में प्रभाकर को कभी दुःख होता है। तब कहता है—'कोई उपाय है ?' तो पता चलता है कि सिवाय परमात्मदर्शन के और कोई उपाय नहीं है। इस संसार के मालिक परम ब्रह्म परमात्मा को समझने से ही, उनके दक्षिणामूर्ति अर्थात् ज्ञानरूप के साक्षात्कार से ही बुद्धि भी अपनी चरम वृत्ति बना पाती है और जीव भी मोक्ष प्राप्त करता है। इस लिए भगवान् ने कहा—'एतद् बुद्ध्वा बुद्धिमान् स्यात्' बुद्धि को ज्ञान वाली बनावे, बुद्धि को अर्थ और काम परायण न बना देवे; ऐसा करेगा तब 'कृतकृत्यश्च' परमात्मा में निष्ठा होकर कोई भी कर्तव्य शेष नहीं रह जायेगा।

इस प्रकार पन्द्रहवें अध्याय में भगवान् ने संक्षेप में सारी बातें बता दीं। अब जैसा ज्ञात है उसके अनुसार आप लोग इस पुरुषोत्तम योग की तरफ प्रवृत्त होवें। चाहे चारों तरफ कितना ही अर्थ और काम का वातावरण आपके ऊपर छाने का प्रयत्न करे, भगवान् शंकर की कृपा से आप उससे बचे रहें और शोक, मोह से निवृत्त होकर कृतकृत्यता को प्राप्त करें, यही आशीर्वाद है।

■■■